



# सेवा धर्म : जीवन्ता धर्म



परस्परोपग्रहो जीवानाम्

-: लेखक :-

आचार्य रत्न कनकनन्दीजी



## सेवा धर्म : जीवन्त धर्म

सलूम्बर में आयोजित “द्वितीय वैज्ञानिक संगोष्ठी” तथा संस्थान के दशाद्वी  
एवं शतक ग्रन्थ समारोह के पावन उपलक्ष्य में प्रकाशित ग्रन्थ !

सामान्यतः सेवा को नौकरों/गुलामों की दासवृत्ति/नीचवृत्ति माना जाता है। परन्तु सेवा ही वास्तविक प्रायोगिक व्यवहारिक अहिंसा/दान/वैयावृत्ति/जीवन्त धर्म है। सेवा से ही अधिकांश मानव महामानव हुए हैं। यहाँ तक कि तीर्थकर भी सेवाधर्म के कारण बनते हैं। ऐसा महान् धर्म का शोध-बोध पूर्ण वर्णन इस नवीन कृति से वाचन, पाचन तथा आचरण करें।

लेखक

आचार्य रत्न कनकनन्दीजी

प्रकाशक

धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान

## अन्तर्वेदना

प्रत्येक जीव सुख चाहता है तथा दुःख से घबराता है। इसलिये जिससे सुख प्राप्त होता है उसे धर्म कहते हैं और जिससे दुःख प्राप्त होता है उसे अधर्म कहते हैं। इसलिये कहा गया है –

**धर्मः सर्वं सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चन्वते ।**

अर्थात् धर्म समस्त सुखों को करने वाला है और हितकर है इसलिये है ज्ञानी पुरुष! धर्म का संचय करो। और यह धर्म निश्चयतः आत्मा की पवित्रता और व्यवहारतः दूसरों के प्रति उत्तम व्यवहार है। जब आत्मा में दया, करुणा, निर्लोभता, परोपकारिता आदि गुण प्रगट होते हैं तब व्यवहार से उसे दूसरों की सेवा आदि होती है। अन्तरंगी पवित्रता से व्यक्ति स्वयं सुखी होता है तो दूसरों की सेवा से दूसरे भी सुखी होते हैं। इतना ही नहीं स्वआत्म की पवित्रता ही स्व जीवन्त धर्म है तो दूसरों की सेवा दूसरे में निवास करने वाले जीवन्त भगवान् या धर्म की सेवा है। क्योंकि –

“न धर्मो धार्मिकैर्विना” अर्थात् धर्मत्माओं के बिना धर्म नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः धर्म धार्मिक व्यक्ति के अन्दर होता है अथवा सरल रूप में कहने पर धार्मिक व्यक्ति ही धर्म है। अतः जो धार्मिक व्यक्ति की सेवा करता है वह साक्षात् धर्म की सेवा करता है। मन्दिर, मूर्ति, धर्म क्षेत्र आदि तो धर्म के प्रतीक हैं। जिस प्रकार भारत के मानवित्र में, भारत के राष्ट्रीय ध्वज या चिह्न में भारत नहीं होता है परन्तु भारत के भूभाग एवं भारत में निवास करने वाले मनुष्य एवं पशु-पक्षी में होता है। इसलिये वह वस्तुतः राष्ट्र प्रेमी देशभक्त है, जो भारत के भूभाग तथा विशेषतः भारत में निवास करने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि से भी प्रेम करता हो। परन्तु जो केवल दिखावे के लिये भारतीय झण्डा आदि का तो सम्मान करता है परन्तु भारतीयों से तथा भारत की अच्छी सभ्यता, संस्कृति, परम्परा से गढ़ारी करता हो, धृणा करता हो, उसे क्षति पहुँचाता हो तो वस्तुतः वह देशभक्त नहीं है परन्तु देश-द्रोही है। इसी प्रकार जो केवल कुछ धार्मिक प्रतीकों की तो पूजा करता है परन्तु जीवन्त धर्म स्वरूप धार्मिक व्यक्ति की सेवा आदि नहीं करता है तो वह धर्म द्रोही, जड़पूजक, धर्म बाद्य है।

प्रायः देश-विदेश के समस्त धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक आदि महापुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता यदि कुछ है तो वह है भाव की पवित्रता और दूसरों के प्रति दया, सेवा, परोपकारिता। जैन धर्म के अनुसार साक्षात् तीर्थकर भी

## धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान-ग्रंथांक - 96

पुस्तक	:- सेवा धर्म : जीवन्त धर्म
लेखक	:- आचार्य श्री कनकनंदीजी गुरुदेव
आशीर्वाद	:- गणधराचार्य श्री कुन्द्युसागरजी गुरुदेव
सहयोगी	:- मुनि श्री कुमार विद्यानंदीजी, मुनि श्री आज्ञासागरजी, आर्थिका कलाशी
परम शिरोमणि संरक्षक	:- श्री रमेशचन्द्र कोटडिया - प्रतापगढ़ निवासी मुंबई एवं अमेरिका प्रवासी
अध्यक्ष	:- श्री गुणपाल जैन (मुजफ्फरनगर)
कार्याध्यक्ष	:- श्री भंवरलाल पटवारी (बिजौलिया)
वरिष्ठोपाध्यक्ष	:- श्री सुशीलचन्द्र जैन -बडौत (मेरठ)
उपाध्यक्ष	:- (सम्पादक-प्रकाशन) 1. श्री प्रभातकुमार जैन (मु.न.) 2. श्री राजमल पाटोदी (कोटो) 3. श्री रघुवीर सिंह (मु.न.)
मानद निर्देशक	:- डॉ. राजमल जैन (उदयपुर)
मंत्री	:- श्री नेमीचंद्र काला (जयपुर)
संयुक्त मंत्री	:- श्री पंकजकुमार जैन (बडौत)
आर्थिक सहयोग	:- श्री पंकज कुमार जैन C/o अमर ऑटो एजेन्सी- देहली-सहारनपुर रोड़, बडौत (यू.पी.)
संस्करण	:- प्रथम-1998
मूल्य	:- ज्ञान प्रचारार्थे सहयोग 11.00/-मात्र
प्रतियाँ	:- 1000
प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान :-	
(1)	धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान निकट दि. जैन धर्मशाला, बडौत (मेरठ)
(2)	नव अल्पना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर - 3 (राज.)
(3)	श्रीमती रत्नमाला जैन C/o डॉ. राजमल जैन (वैज्ञानिक) 4-5 आदर्श कॉलोनी, पुलां, उदयपुर, फोन-(0294) 440793
(4)	श्री गुणपाल जैन, बेहड़ा भवन, 87/1 कुन्दनपुरा मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश), फोन -(0131) 433259
लेसर टाईप सेंटर :-	श्री कुन्द्युसागर ग्राफिक्स सेन्टर 25, शिरोमणि बंगलोज, बडौदा एक्सप्रेस हाइवे के सामने, सी.टी.एम. चार रस्ता के पास, अहमदाबाद-380026 फोन -5891771

दिव्य वाणी से ज्ञान दान देकर केवल मनुष्य और देवों का उपकार नहीं करते हैं परन्तु व्याघ्र, सिंह, गाय आदि पशु-पक्षियों का भी उपकार करते हैं। पाश्वर्वनाथ भगवान जब राजकुमार थे तब उन्होंने जलते हुए नाग-नागिनी को णमोकार मंत्र सुनाया जिससे वे मरकर धरणेन्द्र एवं पदमावती हुए। राजकुमार जीवन्धर ने भी मरते हुए कुते को णमोकार मंत्र सुनाया जिससे वह मरकर व्यक्त हुआ। नारायण कृष्ण ने रोगी मुनि के लिये औषधि युक्त लड्डू की व्यवस्था की थी जिससे उन्हें तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हुआ। नारायण कृष्ण के पिता जी वसुदेव ने पूर्वभव में मुनि अवस्था में दूसरे रोगी मुनि की भोजन आदि की व्यवस्था की थी जिसके कारण वे निदान करके वासुदेव हुए परन्तु यदि वे निदान नहीं करते तो वे उस पुण्य से तीर्थकर हो जाते। महाबली भी मसेन ने पूर्वभव में दूसरे मुनियों की सेवा की थी जिसके कारण वे बलशाली बने तथा उस प्रभाव से विष से भी नहीं मरे। शास्त्र में वर्णन पाया जाता है कि जो सेवा करता है वह तीर्थकर बनता है। तीर्थकर प्रकृति बन्धने में जो सोलह कारण भावना हैं उनमें से प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से तथा पूर्ण एवं आशिक रूप से (1) दर्शनविशुद्धि (2) विनय सम्पन्नता (3) शक्ति के अनुसार त्याग (4) शक्ति के अनुसार तप (5) साधु-समाधि (6) वैयावृत्य करना (7) अरिहन्त भक्ति (8) आचार्य भक्ति (9) बहुश्रुत भक्ति ऐसी नौ भावनायें वैयावृत्य/सेवा के अन्तर्गत आती हैं। इसी से सेवा की महत्ता, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता तथा उपादेयता की सिद्धि हो जाती है।

हिन्दू (वैदिक) धर्म के अनुसार भी अवतारी पुरुष, महापुरुष, ऋषि-मुनि आदि ने सेवा धर्म को स्वयं अपनाया और उसका प्रचार-प्रसार भी किया है। जीवों की रक्षा के लिये (अभयदान, वैयावृत्य) अवतारी पुरुषों का धरती पर अवतरण होता है। नारायण कृष्ण का एक नाम ही गोपाल है। गोपाल का अर्थ है जो गायों की रक्षा करे तथा उनकी सेवा व संवर्द्धन करे। राजा रति देव ने स्वयं तथा परिवार के व्यक्तियों को भी भूखे रखकर दान से प्राप्त भोजन भी दूसरों को दे दिया। राजा दिलीप ने गाय की रक्षा के लिये स्वयं की रक्षा की भी परवाह नहीं की। संत नरसी मेहता द्वारा रचित तथा महात्मा गाँधी के प्रिय भजन की प्रथम पंक्ति में लिखा हुआ है कि “वैष्णव जन तो तेने रे कहइ जे पीर पराई जाणे रे”। तुलसीदास ने कहा कि सेवाधर्म अत्यन्त गहन है। हिन्दू धर्म में यहाँ तक परम्परा रही कि वृक्ष, नदी, पर्वत आदि की पूजा करना। इसकी मूल भावना है उनकी सुरक्षा। हिन्दू धर्म में “मातृ देवो भव”। “पितृ देवो भव”। “आचार्य देवो भव”। “अतिथि देवो भव”। अर्थात् तुम माता में देव बुद्धि करने वाले बनो, पिता को देवरूप समझने वाले होओ, आचार्य को देव स्वरूप तथा अतिथि को देवरूप समझने वाले होओ। आशय यह है कि इन चारों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञा का पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना, इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहिये। जंगल में रहनेवाले ऋषि, तापसी भी पशु-पक्षी यहाँ

तक कि वनस्पति को प्रिय पुत्र के समान प्रेम करते थे।

महात्मा बुद्ध तो साक्षात् दया, करुणा की प्रतिमूर्ति थे। बाल्यावस्था में धायल हंस के लिये राज्य को त्याग देना भी स्वीकारा था परन्तु धायल हंस को चचेरे भाई देवदत्त को देना स्वीकार नहीं किया था। वे दुनिया के दुःखी प्राणी को देखकर उनके दुःखों को दूर करने के लिये समस्त राज-वैभव, अत्यन्त सुन्दरी नव विवाहिता स्त्री तथा पुत्र राहुल को भी त्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े। क्रूर अशोक भी उनकी करुणा से प्रभावित होकर अहिंसक परोपकारी सम्प्राट अशोक बन गया। उनके सुकुमार पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा भी इस दया, करुणा का प्रचार करने के लिये श्रीलंका आदि देश में गये।

केवल भारत में ही दया, परोपकार, सेवा आदि महान् गुणों को स्थान मिला हो ऐसी बात नहीं है परन्तु प्रत्येक देश के प्रत्येक महान् व्यक्ति ने इसे रखीकार किया है। ईसा मसीह तो मानो सेवा के अवतार ही थे। उनके मतानुसार “Serve to humanity is serve to God” अर्थात् मानव जाति की सेवा ही भगवान की सेवा है। वे कुष्ठ आदि रोगों से ग्रसित रोगियों की सेवा करते थे, भूखे को भोजन देते थे तथा असहायकों की सहायता करते थे। इतना ही नहीं, वे भेड़-बकरियों को भी प्यार करते थे, गोद में लेते थे तथा उनकी सेवा करते थे। उनकी इस सेवा भावना से ही प्रेरित होकर ईसाईयों ने सेवा को परम धर्म माना। इसलिये आज देश-विदेश में जितनी सेवा की संरथायें हैं उनमें से अधिकांश संस्थाएँ ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित, संवर्द्धित, पोषित हैं।

सेवाधर्म से ही प्रभावित होकर फ्लोरेन्स नाइटेंगल ने रोगी तथा धायलों की सेवा करके विश्व कीर्तिमान की स्थापना की। इसी प्रकार मदर टेरेसा भी थीं। महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, सुभाषचन्द्र बोस, बाबा आपटे आदि सेवा के लिये आदर्श उदाहरण हैं। एम्ब्लैन्स, रेडक्रॉस, युनिसेफ, लायन्स क्लब, रोटरी क्लब, रकाउट-गाइड, भारतीय विकास परिषद्, महावीर इन्टरनेशनल आदि संस्थाएँ भी परम सेवा धर्म से जुड़ी हुई हैं। देश विदेश के जितने अच्छे-अच्छे महान् कार्य हैं यथा विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय, चिकित्सालय, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम, अनाथालय इस महान् सेवा धर्म से प्रभावित होकर बनाये गये हैं।

शास्त्र में वर्णन पाया जाता है कि दूसरे व्यक्ति भी सेवा से प्रभावित होकर अपने हो जाते हैं। जैनधर्म के अनुसार इसे पात्रलाभ कहते हैं। विदेश में एक घटना घटी थी। एक सैनिक जंगल में जा रहा था। उसे शेर की करुण क्रन्दन ध्वनि सुनाई दी। वह सैनिक जाकर देखता है कि एक सिंह एक पैर को उठाकर रो रहा था। वह सैनिक देखता है कि उसके पैर में एक बड़ा कांटा घुसा हुआ है, वह उस कांटे को निकाल देता है। कुछ वर्ष के बाद कुछ दोष के कारण उस सैनिक को एक भूखे शेर के सामने छोड़ दिया जाता है। परन्तु यहाँ एक महान् आश्र्य हुआ। वह बब्बर भूखा सिंह प्रेम से आकर उसके पैरों में

लोट-पोट होकर गिर गया और उसे प्रणाम करने लगा। वह शेर वही शेर था जिसके पैर से सैनिक ने कांटा निकाला था। यह है सेवा का परिणाम। सेवा से एक कूर मांसभक्षी सिंह भी प्रेमालु दोस्त बन गया। यदि एक मांस भक्षी कूर शेर भी परोपकार एवं सेवा से मित्र बन सकता है तो अन्य सामान्य जीवों की बात ही क्या है? इसके कारण ही तो माता का स्थान पिता से श्रेष्ठ है। बच्चों के ऊपर जब विपत्ति आती है तो वह सर्वप्रथम माँ का स्मरण करता है तथा माँ के पास दौड़ पड़ता है। जैनधर्म के अनुसार एक तीर्थकर के काल में अनेक अरिहन्त और सिद्ध बनते हैं परन्तु तीर्थकर अनेक नहीं बन पाते हैं। क्योंकि तीर्थकर वह बन सकता है जिसमें तीव्र परोपकार की भावना हो। इसी कारण से तो तीर्थकर का खून दूध के समान सफेद होता है। जब तक संतान की उत्पत्ति नहीं होती है तब तक स्तनपायी मादा के स्तन में दूध का संचार नहीं होता है। संतानों की उत्पत्ति के बाद दूध का संचार होता है। इसका कारण है संतान के प्रति वात्सल्य सेवा-भाव। मनोवैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर लिया है कि जिस माता के हृदय में संतान के प्रति अधिक वात्सल्य होता है उसके स्तन में अधिक दूध का संचार होता है तथा कम वात्सल्य होने पर दूध का संचार भी कम होता है। कुछ शारीरिक दोष इसके लिये अपवाद हैं। यह प्रायः देखने में, सुनने में, पढ़ने में आता है कि जो दया, करुणा से प्रभावित होकर कुष्ठ, हैजा, टी.बी. आदि भयंकर संक्रामक, स्पर्श रोग से ग्रसित रोगियों की सेवा करते रहते हैं उन्हें वह रोग नहीं होता है। इसका धार्मिक कारण यह है कि सेवा-भाव से पुण्य बंध होता है और पाप की निर्जरा होती है जिससे उन्हें रोग नहीं होता है। इसका वैज्ञानिक कारण यह है कि अच्छी भावना से श्वेत-रक्त कण की संख्या बढ़ती है, रोग प्रतिरोधक शक्ति (Immunity power) बढ़ती है। इसके साथ-साथ उसके चारों ओर प्रभावशाली ओरा/प्रभामण्डल बनता है जिसके अन्दर संक्रामक रोगाणु भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं। विज्ञान के अनुसार अच्छे व्यक्तियों के मस्तिष्क से अल्फा तरंग, बीटा तरंग, थीटा तरंग आदि अच्छी तरंगे निकलती हैं। इन सब कारणों से सेवा-भावी अत्यन्त प्रसन्न, प्रभावशाली तथा चुम्बकीय शक्ति से युक्त हो जाता है।

जो निस्वार्थ भाव से सबकी सेवा करता है उसका किसी के प्रति वैर भाव नहीं रहता है। उसका सबके प्रति प्रेमभाव होने के कारण वह किसी से भी नहीं डरता है ना उससे कोई वैर भाव रखते हैं और न उसे कोई कष्ट पहुँचाते हैं। जैन रामायण में पाया जाता है कि जब राम-रावण युद्ध चल रहा था उस समय जो सैनिक घायल हो जाते थे उनकी सेवा कुछ व्यक्ति करते थे जो सेवा करते थे उन्हें दोनों पक्ष के सैनिक किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाते थे। इसी प्रकार वर्तमान में रेडक्रॉस, एम्बुलेंस आदि के लिये भी है। अभी पेपर में पढ़ने में आया था कि श्रीलंका में चार दिन के लिये युद्ध विराम रहा। यह विराम कोई राजनीतिक कारण से नहीं परन्तु बच्चों के लिये स्वयं सेवी संस्था के द्वारा

पोलियो की औषधि पिलाई गई उसके कारण से हुआ। मदर टेरेसा जिस किसी राष्ट्र में जाती थी उस देश के राष्ट्र नायक उसके स्वागत के लिये आते थे विमान सेवा उसके लिये मुफ्त थी। इस युग की सबसे शक्तिशाली महिला किसी राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री की धर्मपत्नी या स्वयं महिला राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री न होकर मदर टेरेसा थी। उसके सामने राष्ट्राध्यक्ष आदि न तमस्तक होते थे।

मैं भी बाल्यकाल से बच्चों से बहुत प्यार करता हूँ उन्हें पढ़ाकर संस्कारवान् एवं आदर्शवान् बनाना चाहता हूँ। इसके लिये मैं उन्हें पढ़ाता हूँ, उनके लिये शिविर लेता हूँ और उन्हीं से आहार भी लेता हूँ। बाल्यकाल में सहज स्फूर्ति व चंचलता रहती है। इसके कारण बच्चे बंदर के समान एक स्थान पर अधिक समय रिथर नहीं रह पाते हैं तथापि मेरा 10-20 वर्ष का अनुभव है कि आहार के समय में बच्चे 1-1½ घंटा शालीनता से तथा एकाग्रता से रिथर रहते हैं। तथा व्यवस्थित आहार देकर प्रसन्न होते हैं। मैं बच्चों के अन्तर्मन को समझने के लिये उनसे अनेक साक्षात्कार लेता हूँ। जब मैं बच्चों को पूछता हूँ कि आप लोगों को पढ़ाई में, खेलने में, टी.वी. देखने में, मिठाई खाने में, नये कपड़े पहनने में, कहानी सुनने आदि में से किसमें अधिक आनन्द आता है तो उनमें से अधिकांश बच्चे आहारदान में अधिक आनन्द आता है, कहते हैं। इसके बाद कथा, कहानी सुनने में आनन्द आता है, कहते हैं। इससे सिद्ध होता है दान में, सेवा में अधिक आनन्द अनुभव होता है। और जिससे अधिक आनन्द अनुभव होता है वही धर्म है क्योंकि पहले ही कहा गया था—

**“धर्म सर्व सुखाकरो-हितकरो”।**

इसके साथ-साथ मेरा 1 1 प्रदेश के भ्रमण से बाल्यकाल से अभी तक मैंने जो अध्ययन किया उसके आधार पर मैंने जो प्रायोगिक निष्कर्ष निकाला वह यह है कि सबसे अधिक सरल, नम्र, निर्लोभी, वात्सल्य प्रेरी, सेवाभावी, आहार-दान देने वाले पाए जाते हैं। परन्तु मैंने यह भी पाया जो नाम के लिए येन-केन प्रकारेण धन कमाकर धार्मिक मेला, उत्सव आदि में बोली ले देते हैं, या एकाध उपवास कर लेते हैं, एकाध धार्मिक किताब तोते की तरह रट लेते हैं, रुद्धिवशात् पूजा-पाठ कर लेते हैं, धार्मिक उपदेश दूसरों के लिये झाड़ते-फिरते हैं लोग उन्हें धार्मिक मानकर उनका सम्मान करते हैं, उनकी जय-जयकार करते हैं, उनका नाम लिखवाते हैं, परन्तु आहार-दान देने वालों को ऐसे सम्मान आदि नहीं मिलते हैं। इससे आगे दुःख की बात यह है कि साधुओं की शारीरिक सेवा करना, कमण्डल लेकर चलना, उनके आवास स्थान को स्वच्छ करना, आहार एवं पूजा के लिए पानी लाना आदि को तो नौकरों का काम मानते हैं। जो धन के लिए, स्वार्थ के लिए छोटे से छोटे, खोटे से खोटे कार्य कर सकते हैं वे भी साधु-संतों की सेवा, शारीरिक-धार्मिक कर्तव्यों को हेय दृष्टि से देखते हैं और नौकर का कार्य मानते हैं। इन सभी कारणों से धर्म में तेजस्विता, प्रभावोत्पादकता, महानता, उदारता आदि गुण नहीं आ पा रहे हैं। इसलिये

इतना महान् सर्वजीव हितकारी सर्वजीव सुखकारी गणितीय वैज्ञानिक जैन धर्म जो कि वस्तुतः वस्तु स्वरूप धर्म होने के कारण विश्व धर्म है, तो भी आज बहुत संकीर्ण परिधि में है। परन्तु अद्यतन/अर्वाचीन ईसाई धर्म बहुत ही फल रहा है, फूल रहा है क्योंकि ईसाई धर्म में प्रायोगिक रूप में सेवा धर्म पाया जाता है।

आचार्यों ने श्रावक के विभिन्न कर्तव्यों में से सेवा को मुख्य कर्तव्य बताया है और साधुओं के लिये गौण बताया है। तथापि वैयावृत्य को अन्तरंग तप कहा है। जो सरागी साधु होकर के भी वैयावृत्य नहीं करता है उसकी आचार्यों ने निन्दा की है। बहिरंग तप से अन्तरंग तप श्रेष्ठ होता है। वैयावृत्य अन्तरंग तप है। इसलिये उपवास, रस त्याग आदि तप से वैयावृत्य तप श्रेष्ठ है। क्योंकि जिसके भाव में भक्ति, नम्रता, परोपकारिता आदि गुण होते हैं वही वैयावृत्य कर सकता है। यह सब होते हुए भी मेरा दीर्घ काल का अनुभव यह है कि अधिकांश व्यक्ति सेवा को बहुत ही कम महत्त्व देते हैं। जो व्यक्ति तीर्थ्यात्रा, मूर्तिपूजा आदि के लिये धंटों, महीनों का समय देते हैं और लाखों रूपया खर्च करते हैं वे भी साधुओं की सेवा के लिये कुछ समय भी नहीं देंगे और कुछ रूपये भी खर्च नहीं करेंगे। इनकी यह कृति/प्रवृत्ति ‘जिन्दा बाप से लट्टुमलड्डा मरे हुए को पहुँचाये गंगा’ जैसी है। इन सब अनुभवों एवं अध्ययन के फलस्वरूप मेरे मन में बहुत दिनों से एक पीड़ा उत्पन्न हुई है वह पीड़ा यह है कि जैन श्रावक से लेकर जैनाचार्य तक प्रायोगिक जीवन्त धर्म स्वरूप सेवा को कम महत्व दे रहे हैं। उस कमी को दूर करने के लिये तथा वस्तु स्वरूप के प्रकाशन के लिये विभिन्न उद्धरण एवं उदाहरणों के माध्यम से इस कृति में मैंने यह सिद्ध किया है कि धार्मिक व्यक्तियों की सेवा, जीव मात्र की सेवा धार्मिक सेवा, पूजा/उपासना है और यह ही प्रायोगिक जीवन्त अहिंसा, वात्सल्य भाव, जीव दया, विश्व प्रेम, विश्व मैत्री, वसुधैव कुटुम्बकम्, परोपकार, वैयावृत्य, पुण्य कर्म है।

इस कृति में लेखन कार्य में कुमारी भावना शाह, कु. मनीषा शाह, कुमार मनीष जैन, कुमारी दर्शना जैन, कुमार जयेश गड्ढिया, कुमारी समता गाँधी आदि ने सहायता की। इस ग्रंथ का प्रकाशन पंकज कुमार जैन (बड़ौत) वालों ने किया है। पंकज एक उर्दीयमान, लगानशील, गुरुभक्त नवयुवक है। उन सभी को मेरा आशीर्वाद है। इसका अध्ययन करके जीव मात्र के अन्दर दया, करुणा, परोपकार, सेवा, सहानुभूति आदि के गुण उत्पन्न हों ऐसी महती शुभ कामनाओं के साथ।

आचार्य रत्न कनकनन्दीजी

धर्म सागर श्रमण भवन - सलुम्बर 24-9-98

## विषय-सूची

क्रम अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
1 प्रथम	जीवन्त सेवाधर्म : दान चार प्रकार का दान तथा फल आहार दान आहारदान से श्रीषेण शान्तिनाथ तीर्थकर हुए औषधि दान औषधि दान से सर्वोषधि ऋद्धि फल की प्राप्ति ज्ञान दान ज्ञानदान से ग्वाला कौण्डेश (कुन्दकुन्द) मुनि हुआ अभयदान/वसतिका दान अभयदान/वसतिका दान से कुम्हार देव हुआ	1 2 3 5 6 7 9 9 10 10
2 द्वितीय	दान भी अहिंसाक्रत वैयावृत्य न करने की निन्दा वैयावृत्य भी भक्ति वैयावृत्य का एक गुण पात्र लाभ अल्पबंधक परोपकार भी करणीय सेवा/वैयावृत्ति के सुयोग समय सेवार्थे लौकिक जनों के साथ संभाषण-विधेय शुभोपयोग श्रावकों के लिये मुख्य एवं श्रमणों के लिये गौण अहिंसा के लिये अतिथि संविभाग व्रत अहिंसा के लिये दान देने की विधि अहिंसा के लिये दाता के सात गुण अहिंसात्मक द्रव्य देय जैसा करे विचार वैसा करे आहार पात्र का स्वरूप : अहिंसक दान में अहिंसा धर्म पलता जो दान नहीं देता वह हिंसक	12 18 20 21 26 28 28 30 33 34 35 35 39 41 41 41 42

क्रम अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
3 तृतीय	साधुओं के द्वारा साधु की सेवा आहारदानादि सेवा से नन्दिशरण मुनि वसुदेव हुए	43 48
	पवित्र सेवाभावी उद्घायन राजा	54
	सेवाभावी ग्वाला से सुदर्शन	56
	वात्सल्य -सेवाभावी विष्णुकुमार मुनि	59



श्री पंकज जैन ‘‘क्षमा’’ सुपुत्र श्री सुखमाल चन्द्र जैन  
बड़ौत द्वारा आपने द्वादा स्व. श्री धर्मद्वादा जैन एवं  
दाढ़ी स्व. श्रीमती बसकटी देवी की पुण्य-स्मृति में  
गणधर्ताचार्य श्री कुब्युस्तागरजी गुरुदेव एवं  
आचार्य रत्न श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव  
के कर कमलों में सादर समर्पित ।

## अध्याय -1

### जीवन्त सेवाधर्म : दान

प्रायः देश विदेश की धार्मिक परम्पराओं में और विशेषतः भारतीय परंपरा में यथा जैन, बौद्ध, हिन्दुओं में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है । अहिंसा शब्द ही निषेध-परक है । न+हिंसा =अहिंसा । नज् समास के अनुसार न का लोप होकर अ रह गया और हिंसा शब्द समावेश हो गया जिससे अहिंसा शब्द की व्युत्पत्ति हुई । इसका अर्थ है हिंसा नहीं करना । और वह भी प्रायोगिक रूप में देखने में आता है केवल दूसरों की द्रव्य हिंसा नहीं करना ही अहिंसा मान लिया जाता है । परन्तु स्वभाव की निर्मलता/ पवित्रता/ सरलता/ सहजता/ निर्लोभिता/ सेवा परायणता/ त्यागवृत्ति आदि स्व भाव अहिंसा तथा दूसरों की तन-मन-धन-भोजन औषधि, वस्त्र, गृह आदि के द्वारा सेवा करना, सहायता पहुँचाना आदि को अहिंसा रूप में प्रायः अधिकांश व्यक्ति न जानते हैं न मानते हैं । इसके कारण ही विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में तथा व्यक्तियों में अनेक विकृतियाँ, अनेक विपरीततायें, अनेक भ्रान्तियाँ, अनेक कमियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । इसलिए कुछ व्यक्तियों की अहिंसा केवल धर्मायतन में, पूजा गृह में, आराधना स्थल में, धार्मिक ग्रन्थों में, धार्मिक पर्वों में, धार्मिक प्रवचनों में, रसोईघरों में ही निष्क्रिय रूप में, निस्तेज रूप में, निर्जीव रूप में, विकृत रूप में, विपरीत रूप में पाई जाती है । परन्तु उनके जीवन में, गृह में, कार्यालय में, बाजार में, दुकान में, कार्यक्षेत्र में, परस्पर व्यवहार में अहिंसा बहुत दूर ही रहती है । इन कारणों से ही दयामयी, परोपकारिणी/जगतोपकारिणी/सेवा परायणी/वात्सल्यमयी अहिंसा निस्तेज है, निष्क्रिय है, विकृत है, संकीर्ण है, प्राण-रहित है । इसलिए इस ‘‘सेवाधर्म : जीवन्त धर्म’’कृति में मैं विभिन्न उन्नरण, उदाहरण के माध्यम से सिन्दू करने का प्रयास कर रहा हूँ कि सेवा/वैयावृत्य/दान/परोपकार आदि जीवन्त अहिंसा है । जो अन्तरंग पवित्रता से युक्त होकर सेवादि करता है वह स्व-पर, द्रव्य-भाव, अहिंसा का पालन करता है । अन्य कुछ धार्मिक कर्तव्यों में गतिविधियों में केवल स्व-कल्याण होता है परन्तु दान, सेवादि में स्व-पर कल्याण होता है । जैसा कि स्वयं अध्ययन करना, मनन करना, ध्यान करना,

पवास, रस –त्याग करना आदि से स्व–कल्याण की प्रधानता है परन्तु दान आदि स्व–पर कल्याण है क्योंकि जो अग्रलिखित भाव एवं पद्धति से दान आदि देता उसके भाव में दया, परोपकार, निर्लोभता, सेवा, मृदुता आदि गुण होते हैं तथा न गुणों का संबर्द्धन तथा परिमार्जन भी होता है। इसलिए इससे स्व–कल्याण होता। इसके साथ–साथ योग्य पात्र को योग्य समय में, योग्य रीति से दिया गया दान भी उसके उपकार के लिए होता है। इसलिए भगवती आराधना आदि प्राचीन नागम में कहा गया है कि यदि कोई एक साधु छः–छः महीने के उपवास करके यान, तप आदि करता हो तथा दूसरे एक साधु नित्य आहार करके दूसरों की वैयावृत्ति करता हो तो इनमें से वैयावृत्ति करने वाला श्रेष्ठ है। कुन्दकुन्द देव ने गृहस्थों के लिए यहाँ तक कह दिया कि “दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विणा” अर्थात् दान तथा पूजा श्रवकों के मुख्य कर्तव्य हैं और जो श्रावक होकर ये दोनों कर्तव्य नहीं करते हैं वे श्रावक नहीं हैं। स्वामी समंतभद्र स्वामी ने भी लकरण्डश्रावकाचार में चारों प्रकार के दान को वैयावृत्ति / सेवा कहा है।

पथा-

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।

वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मवेन चतुरक्षाः ॥ 27 ॥

अर्थः— भक्त, पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वस्तिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है। ऐसा पण्डितजन निरूपण करते हैं।

### चार प्रकार के दान तथा फल

जो दान देता है वह दान देते हुए अन्तरंग में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। दान से उनकी कीर्ति दश दिशाओं में फैल जाती है, पाप कर्म का नाश होता है, सातिशय पुण्य वृद्धि को प्राप्त होता है। उस पुण्य से इस लोक में गृह्याति, पूजा, वैभव प्राप्त होता है। परलोक में भोग–भूमि, स्वर्ग, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती की विभूति मिलती है। दान के चार प्रकार हैं— (1) आहार दान, (2) औषध दान, (3) ज्ञान दान, (4) वस्तिका दान या अभय दान।

### आहार दान

“शरीरमाद्यम् खलु धर्म साधनम्” धर्म साधन के लिये शरीर सर्वश्रेष्ठ एवं प्रथम साधन है। योग्य शरीर से धर्म साधन विशेष होता है। आहार के बिना शरीर दुर्बल हो जाता है। शरीर–रक्षा के लिये आहार चाहिये। आहार के बिना शरीर रिथर नहीं रह सकता है। क्षुधा एक भयंकर रोग है। क्षुधारूप रोग से सम्पूर्ण शरीर जलने लगता है, शरीर दुर्बल हो जाता है, इन्द्रिय—मन एवं अवयव शिथिल पड़ जाते हैं, जिसके कारण धर्म साधन विशेष नहीं हो पाता है, इसलिये क्षुधारूपी रोग को दूर करने के लिए भोजन रूपी औषधि की नितान्त आवश्यकता है। सर्व आरम्भ, परिग्रह त्यागी साधु केवल भिक्षा से प्राप्त अन्न से ही उदर–पोषण करते हैं जिससे उनकी धर्म साधना उत्तम रीति से चलती रहे। इसलिये सद्–गृहस्थों का पवित्र, श्रेष्ठ कर्तव्य है कि ऐसे धर्मात्मा साधु पुरुषों को शुद्ध आहार दान दें, उनकी रक्षा करें जिससे धर्म की भी रक्षा होगी। धर्म की रक्षा से विश्व में सुख–शान्ति फैलेगी।

दानं दुर्गति नाशाय शीलं सद्गति कारणं ।

तपः कर्म विनाशाय भावना भव नाशनी॥

दान से दुर्गति नाश होती है, शील से सद्गति मिलती है, तप से कर्म नाश होता है, भावना से संसार नाश होता है।

हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कंठस्थ भूषणम् ।

श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं, भूषणैः किं प्रयोजनम् ॥

हस्त का भूषण सोने का कड़ादि नहीं है परन्तु दूसरों को दान देना ही भूषण है। कंठ का भूषण रत्नादि हार नहीं है परन्तु सत्य बोलना भूषण है। कान का भूषण कुंडलादि नहीं है परन्तु साधुओं का आत्म उद्घारक उपदेश सुनना भूषण है। इसी प्रकार जो इन भूषणों से अलंकृत है उसको भौतिक भारत्वरूप भूषण से क्या प्रयोजन है ?

गजतुरं गसहस्रं गोकुलं भूमि दानम् ।

कनकरजतपात्रं मेदीनी सागरान्तं ॥

सुरयुवती समानं कोटिकन्या प्रदानम् ॥

नहि भवति समानं ह्यनन्दानं प्रधानं ॥

हजारों हाथी, घोड़ा, गाय, भूमि, स्वर्ण–पात्र, रजत–पात्र, सागर पर्यन्त

पृथ्वी, अप्सरा के समान सुन्दरी कोटि कन्या प्रदान करना भी अन्न दान के समान नहीं है। अन्न-दान प्रधान दान है क्योंकि भोजन से क्षुधा रोग मिटता है जिससे निराकुल रूप से धर्म साधना होती है, जिससे शाश्वतिक सुख मिलता है, शान्ति मिलती है।

**सत्पात्र दानेन भवेद्वनाद्यो धन प्रकर्षण करोति पुण्यम्।**

**पुण्याधिकारी दिवि देवराजः पुनर्धनाद्यः पुनरेव त्यागी ॥**

सत् पात्र दान से पुण्य संचय होता है। पुण्य के प्रभाव से धनी बनता है, धन बढ़ने से पुनः दानादि करके पुण्य कार्य करता है जिससे सातिशय पुण्य होता है, जिससे स्वर्ग में देवराज इन्द्र बनता है। स्वर्ग से च्युत होकर पुनः वैभवशाली धर्मात्मा मनुष्य बनता है। यहाँ पर पुनः त्याग करता है।

**दिण्णई सुपत्तदाणं विसेसदो होइ भोगसगगमही ।**

**णिव्वाणसुहं कमसो णिहिटं जिणवरिंदेहिं ॥ 16 ॥ (र्यणसार)**

उत्तम साधु पुरुष को दान देने से नियम से भोग एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा क्रम से निर्वाण सुख भी मिलता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने दिव्य संदेश दिया है।

**जो मुणि भुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुविद्विठं ।**

**संसार सार सोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥ 22 ॥ (र्यणसार)**

जो मुनिश्वरों को आहार दान देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

इससे सिद्ध होता है कि अतिथियों को पहले आहारदान देकर उसके पश्चात् ही सद्गृहस्थ भोजन करता है। गाँव में साधु नहीं होने पर भी आहार के समय में द्वारप्रेक्षण करना चाहिए अर्थात् कहीं से आ रहे हैं या नहीं इसकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि आ रहे हैं तो उनका स्वागत करके भोजन देना चाहिये।

**गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्षि खलु गृहविमुक्तानाम् ।**

**अतिथिनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि ॥ 14 ॥ (रल. श्रा.)**

गृहस्थ के गृह सम्बन्धी आरम्भ, कृषि, व्यापार, भोजनादि बनाने से जो पापरूपी कलंक लिस होता है उस कलंक को धोने के लिये गृहत्यागी अतिथि मुनियों को आदरपूर्वक दान देने से वे कर्म धुल जाते हैं, जैसे रक्त से लिस कपड़ा पानी

धोने से स्वच्छ हो जाता है।

**(न वे कदरिया देव लोकं वृजन्ति,**

**बालाह वे न पसंसन्ति दानम् ।**

**धीरोव दान अनुमोद मानो,**

**तेनेव सो होति सुखी परत्न । ) (धर्मपद. बौद्ध.)**

कंजूस आदमी देवलोक में नहीं जाते, मूर्ख लोग दान की प्रशंसा नहीं करते पंडित लोग दान का अनुमोदन करते हैं। दान से ही मनुष्य लोक-परलोक में सुखी होता है।

### आहारदान से श्रीषेण शान्तिनाथ तीर्थकर हुए

मलयदेश के रत्नसंचयपुर में राजा श्रीषेण रहता था। उसकी बड़ी रानी का नाम सिंहनन्दिता और छोटी रानी का नाम अनिन्दिता था। दोनों रानियों के क्रम से इन्द्र और उपेन्द्र नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसी नगर में सात्यकि नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम जम्बू और पुत्री का नाम सत्यभामा था। पाटलिपुत्र नगर में एक रुद्रभट्ट नाम का ब्राह्मण बालकों को वेद पढ़ाया करता था। उसकी दासी का पुत्र कपिल तीक्ष्णबुद्धि होने से छलपूर्वक वेद को सुनता हुआ उसका पारगामी विद्वान हो गया। रुद्रभट्ट ने कुछ होकर उस कपिल को पाटलिपुत्र नगर से बाहर निकाल दिया।

वह कपिल दुपट्टे सहित यज्ञोपवीत धारण कर ब्राह्मण बनकर रत्नसंचय नगर में चला गया। सात्यकि ब्राह्मण ने उसे वेद का पारगामी तथा सुन्दर देख ‘यह सत्यभामा के योग्य है’ ऐसा मान उसके लिए सत्यभामा दे दी। सत्यभामा, रति के समय उसकी विट जैसी चेष्टा देखकर ‘यह कुलीन है या नहीं?’ ऐसा विचार कर मन में खेद को धारण करती हुई रहती थी। इसी अवसर पर रुद्रभट्ट तीर्थयात्रा करता हुआ रत्नसंचय नगर में आया। कपिल उसे प्रणाम कर अपने सफेद गृह में ले गया तथा भोजन और वस्त्र आदि दिलाकर उसने सत्यभामा तथा अन्य समस्त लोगों के सामने कहा कि ‘यह मेरा पिता है’। सत्यभामा ने एक दिन रुद्रभट्ट को विशिष्ट भोजन तथा बहुत सा सुवर्ण दकर उसके पैरों में लगाकर पूछा कि हे तात! कपिल में आपके स्वभाव का अंश भी नहीं है, इसलिए यह आपका पुत्र है अथवा नहीं यह सत्य मुझसे कहिये। तदनन्तर रुद्रभट्ट ने कहा कि ‘हे पुत्री! यह मेरी दासी

का पुत्र है।' यह सुनकर वह उससे विरक्त हो गयी तथा 'यह हठपूर्वक मेरे पास आएगा' ऐसा मानकर वह सिंहनन्दिता नामक बड़ी रानी की शरण में चली गई। सिंहनन्दिता ने उसे पुत्री मानकर रख लिया। इस प्रकार एक दिन श्रीषेण राजा ने परमभक्ति से विधिपूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियों को दान दिया। उसके फल—स्वरूप वह रानी राजा के साथ भोगभूमि में उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण आहारदान के कारण परम्परा से शान्तिनाथ तीर्थकर हुए। यह आहारदान का फल है।

### औषधि दान

रोगिभ्यो भैषजं देयं, रोगो देह विनाशकः ।

देहे नाशे कुतो ज्ञानं, ज्ञानाभावे न निवृत्तिः ॥

रोगियों को औषधि देना चाहिए। क्योंकि रोग शरीर का नाशक है। शरीर का नाश होने पर ज्ञान कैसे हो सकता है और ज्ञान के बिना निर्वाण कैसे प्राप्त हो सकता है। इसलिए जो औषधि दान देता है वह शरीर को बचाता है, तथा ज्ञान एवं निर्वाण प्राप्ति के लिए सहकारी कारण बनता है।

गुरुओं को, धार्मिक जनों को, रोगियों को, अहिंसात्मक प्रासुक शुद्ध औषधि देना औषधि दान है तथा शुद्ध औषधालय खोलना, रोगियों की सेवा, चिकित्सा करना, उनको सांत्वना देना, प्रिय वचन बोलना, साहस दिलवाना आदि औषधि दान में आता है।

### औषधिदान से सर्वोष्ठ ऋद्धि फल की प्राप्ति

जनपद देश के कावेरीपत्तन नगर में राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। उन दोनों के वृषभसेना नाम की पुत्री थी। वृषभसेना की रूपवती नाम की धाय थी। एक दिन वृषभसेना के स्नानजल के गड्ढे में एक रोगी कुत्ता गिरकर जब उसमें लोटने के बाद निकला तो वह रोग रहित हो गया। उसे देखकर धाय ने विचार किया कि इसकी निरोगिता का कारण पुत्री का स्नानजल ही है। तदनन्तर धाय ने यह समाचार अपनी माता से कहा। उसकी माता बारह वर्ष से नेत्र रोग से पीड़ित थी। माता ने एक दिन परीक्षा के लिए अपने नेत्र उस जल से धोये तो धोने के साथ ही ठीक दिखने लगा।

इस घटना से वह धाय उस नगर में सब रोगों को दूर करने वाली है। इस तरह प्रसिद्ध हो गई।

एक समय राजा उग्रसेन ने अपने रणपिङ्गल नामक मंत्री को बहुत सेना से युक्त कर मेघपिङ्गल पर चढ़ाई करने भेजा। मंत्री ज्यों ही उस देश में प्रविष्ट हुआ त्योहारी विषमित्रित जल का सेवन करने से ज्वर से ग्रसित हो गया। जब वह लौटकर आया तब रूपवती धाय ने उसे उस जल से नीरोग कर दिया। राजा उग्रसेन भी क्रोध वश वहाँ गया और ज्वर से आक्रांत हो लौटकर आ गया। रणपिङ्गल से जल का वृत्तान्त सुनकर राजा ने भी उस जल की याचना की। तदनन्तर धनश्री सेठानी ने सेठ से सलाह की कि हे श्रेष्ठिन! राजा के सिर पर पुत्री के स्नान का जल कैसे डाला जावे? धनपति सेठ ने कहा कि यदि राजा जल का स्वभाव पूछता है तो सत्य कह दिया जावेगा उसमें दोष नहीं है। ऐसा कहने पर रूपमती धाय ने उग्रसेन राजा को उस जल से निरोग कर दिया। तदनन्तर निरोग राजा ने रूपमती से जल का महात्म्य पूछा। रूपमती ने सब सत्य ही कह दिया। पश्चात् राजा ने सेठ को बुलाया और वह डरते-डरते राजा के पास आया। राजा ने सम्मान कर उससे वृषभसेना को विवाह देने की याचना की। तदनन्तर सेठ ने कहा कि—“हे राजन्! यदि तुम जिन प्रतिमाओं की अष्टाहिक पूजा करते हो, पिंजडों में स्थित समस्त पक्षियों को छोड़ते हो और बन्दीगृह में स्थित सब मनुष्यों को बंधन से मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री देता हूँ।” राजा उग्रसेन ने वह सब कर वृषभसेना को विवाह लिया तथा उसे पटरानी बना दिया। राजा अन्य सब कार्यों को छोड़कर अतिशय प्रिय उसी वृषभसेना के साथ क्रीड़ा करने लगा।

इसी अवसर पर वाराणसी का एक पृथ्वीचन्द्र नामक राजा उसके यहाँ कैद था। उसे अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण राजा ने वृषभसेना के विवाह के समय भी नहीं छोड़ा था। तदनन्तर पृथ्वीचन्द्र की जो नारायणादत्ता नाम की रानी थी उसने मन्त्रियों के साथ सलाह कर, पृथ्वीचन्द्र को छुड़वाने के लिए वाराणसी में सब जगह वृषभसेना रानी के नाम से ऐसे भोजनगृह खुलवाये, जिनमें किसी के लिए प्रवेश करना निषेध नहीं था। उन भोजनगृहों में भोजन कर जो ब्राह्मणादि कावेरीपत्तन गये थे उनसे वृत्तान्त को सुनकर रूपवती धाय ने रुष्ट हो वृषभसेना से कहा कि हे वृषभसेने! तुम मुझसे बिना पूछे ही वाराणसी में भोजनगृह क्यों बनवा रही हो। वृषभसेना ने कहा कि मैं नहीं बनवा रही हूँ किन्तु मेरे नाम से किसी कारणवश

किसी अन्य ने बनवाये हैं। तुम इसका पता लगाओ। तदनन्तर गुप्तचरों से पता लगावाकर तथा यथार्थ बात जानकर उसने वृषभसेना से सब समाचार कहा। वृषभसेना ने यह सब राजा से कहकर पृथ्वीचन्द्र को बन्धन से छुड़वा दिया।

पृथ्वीचन्द्र ने एक चित्रपट पर वृषभसेना और उग्रसेन के चित्र बनवाये तथा उनके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र बनवाया। वह चित्रपट्ट उन दोनों के लिए दिखाया गया और वृषभसेना रानी से कहा गया कि हे देवी! तुम मेरी माता हो, तुम्हारे प्रसाद से मेरा यह जन्म सफल हुआ है। तदनन्तर उग्रसेन ने सम्मान देकर कहा कि तुम्हें मेघपिङ्गल पर जाना चाहिए, ऐसा कहकर उन दोनों ने उसे वाराणसी भेज दिया। मेघपिङ्गल भी यह सुनकर तथा 'यह पृथ्वीचन्द्र मेरा मर्मभेदी है' ऐसा विचार कर आया और उग्रसेन से सम्मान प्राप्त कर उसका सामन्त बन गया। राजा उग्रसेन ने ऐसी व्यवस्था की कि राजसभा में स्थित रहते हुए मेरे लिये जो भेंट आती है उसका आधा भाग मेघपिङ्गल को ढूँगा और आधा भाग वृषभसेना के लिए। इस प्रकार की व्यवस्था किये जाने पर एक दिन रत्नकम्बल भेंट में आये। राजा ने उसे नाम से चिह्नित कर एक -एक कम्बल दोनों के लिए दे दिया।

एक दिन मेघपिङ्गल की रानी विजया, मेघपिङ्गल का कम्बल ओढ़कर किसी कार्य से रूपवती के पास गई। वहाँ उसका कम्बल बदल गया अर्थात् वह वृषभसेना के नाम से अंकित कम्बल ले आई और मेघपिङ्गल के नाम से अंकित कम्बल को वहाँ छोड़ आई। एक दिन वृषभसेना के कम्बल को ओढ़कर मेघपिङ्गल सेवा के समय राजा उग्रसेन की सभा में गया। और राजा उग्रसेन उस कम्बल को देखकर अत्यन्त क्रोध से लाल-लाल नेत्रों वाला हो गया। मेघपिङ्गल, उसे उस प्रकार देख 'यह मेरे ऊपर कुपित है, ऐसा जानकर दूर चला गया।' क्रोध से युक्त राजा उग्रसेन ने मारने के लिए वृषभसेना को समुद्र के जल में फिंकवा दिया। वृषभसेना ने प्रतिज्ञा की कि यदि इस उपर्युक्त से उद्धार पा सकूँगी तो तप करूँगी। तदनन्तर व्रत के महात्म्य से जल देवता ने उसके लिए सिंहासन आदि का अतिशय किया। यह सुनकर पश्चात्यप करता हुआ राजा उसे लेने के लिए गया। वापिस आते हुए राजा ने वन के बीच गुणधर नाम के एक अवधिज्ञानी मुनि को देखा। वृषभसेना ने नमस्कार कर उनसे अपने पूर्वभव का समाचार पूछा। भगवान मुनि ने कहा-कि तू पूर्व भव में इसी नगर में नागश्री नाम की ब्राह्मण पुत्री थी और राजा के देव मन्दिर में झाड़ने का कार्य करती थी। एक दिन उस मन्दिर में अपराह्न के समय कोट के भीतर वायु

रहित गहरे स्थान में मुनिदत्त नाम के एक मुनि पर्यञ्चासन से कायोत्सर्ग पर विराजमान थे। तूने क्रुद्ध होकर उनसे कहा कि कटक से राजा यहाँ आवेंगे। अतः तुम यहाँ से उठो, मुझे झाड़ना है। इस तरह तू कहती रही, परंतु मुनि कायोत्सर्ग कर मौन से स्थित रहे। तदनन्तर तूने कचरे से उन्हें ढक्कर ऊपर से झाड़ दे दी। प्रातःकाल जब राजा आया और क्रीड़ा करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा तब उसने श्वास के कारण ऊंचे-नीचे होते हुए उस स्थान को देखकर खुदवाया और उन मुनि की पीड़ा को शान्त करने के लिए बड़े आदर से उन्हें विशिष्ट औषध दी तथा उनकी सेवा की। तदनन्तर निदान से मरकर तू यहाँ धनपति और धन श्री के वृषभसेना नाम की पुत्री हुई है। औषधदान के फल से तुम्हें सर्वोषधत्रित्व का फल प्राप्त हुआ है। तथा कचरे से ढक्कने के कारण तू कलंक को प्राप्त हुई है। यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजा से छुड़ाकर उही मुनि के समीप आर्थिका हो गयी। यह औषधदान का फल है।

### ज्ञानदान

यो ज्ञान दानं कुरुते मुनीनां सदेवलोकस्य सुखानि भुक्ते ।  
राज्य च सत्केवलबोधलब्धि लब्धवा स्वयं मुक्तिपद लभेत् ॥

जो मुनियों के लिए ज्ञानदान करता है वह स्वयं स्वर्ग लोक से सुख भोगकर राज्य को प्राप्त करता है और केवलज्ञान को प्राप्त कर स्वयं मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

मुनियों को शास्त्र, ज्ञान उपकरण जैसे- कागज, कलम आदि देना ज्ञान-दान कहा जाता है। सत्साहित्यों का प्रकाशन-वितरण करना भी ज्ञान-दान है। स्वयं दूसरों को पढ़ाना, धार्मिक उपदेश करना, धार्मिक शिविर लगाना, धार्मिक स्कूल खोलना, उसके लिए आर्थिक सहयोग देना भी ज्ञान-दान है।

### ज्ञान-दान से ग्वाला कौण्डेश (कुन्दकुन्द) मुनि हुआ

कुरुमणि ग्राम में गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। उसने कोटर से निकालकर एक प्राचीन शास्त्र की पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनन्दी मुनि के लिए वह शास्त्र दे दिया। उस शास्त्र के द्वारा पहले के कितने ही मुनियों ने स्वयं पूजा करके तथा दूसरों से कराकर व्याख्यान किया था। उसके बाद वे उस शास्त्र को

उसी कोटर में रखकर चले गए थे । गोवन्दि बचपन से ही उस शास्त्र को देखकर नित्य ही उसकी पूजा करता था । वही गोविन्द निदान से मरकर उसी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ । एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनि को देखकर उसे जातिरमण हो गया, जिससे तप धारण कर वह कौण्डेश नाम का बहुत बड़ा शास्त्रों का पारगामी मुनि हुआ । यह श्रुत ज्ञान –शास्त्र दान का फल है ।

### अभय दान व वस्तिका दान

प्रत्येक जीव की रक्षा करना, गुरुओं का उपसर्ग, परीषह दूर करना, योग्य वस्तिका (निवास गृह) पिछी— कमण्डलादि उपकरण देना अभयदान व वस्तिका दान में गर्भित हैं ।

जीव की रक्षा करना, उनको किसी प्रकार के कष्ट नहीं पहुँचाना बहुत बड़ा दान हैं क्योंकि उससे जीवन की रक्षा हुई, जीवन रक्षा से वह अन्य धार्मिक कार्य कर सकता है ।

दणु ण दिण्डु मुणि वरऊँ ण वि पुञ्जिउ जिणणाहु ।  
पंच ण वंदिय परम गुरु किमु होसइ सिव लाहु ॥

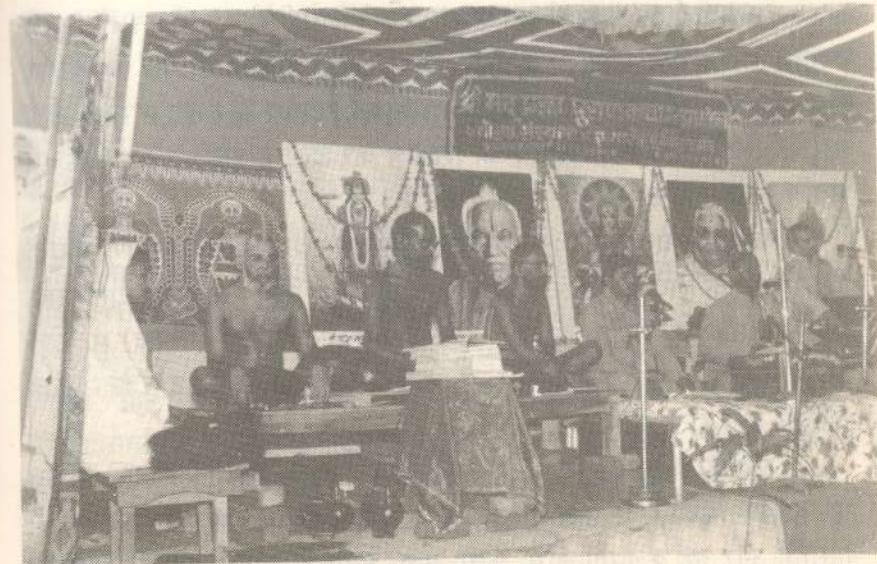
जो मुनिश्वरों को दान नहीं देता है, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा नहीं करता है, पंच परमेश्वरों की वन्दना नहीं करता है, उसको शिवसुख साप्राप्य कैसे प्राप्त हो सकता है ?

### अभयदान/वस्तिका दान से कुम्हार देव हुआ

मालवदेश के घट ग्राम में देविल नाम का एक कुम्हार और धमिल्ल नाम का एक नाई रहता था । उन दोनों ने पथिकों को ठहरने के लिए एक धर्म-स्थान बनवाया । एक दिन देविल ने मुनि के लिए वहाँ पहले निवास स्थान दे दिया । पश्चात् धमिल्ल ने एक परिव्राजक को वहाँ लाकर ठहरा दिया । धमिल्ल और परिव्राजक ने उन मुनिराज को वहाँ से निकाल दिया, जिससे वे वृक्ष के नीचे रात-भर डाँस-मच्छर तथा शीतादि की बाधा को सहन करते हुए ठहरे रहे । प्रातःकाल ऐसा करने से देविल और धमिल्ल में परस्पर युद्ध हुआ, जिससे दोनों मरकर विन्ध्याचल में (देविल) सूकर और (धमिल्ल) व्याघ्र हुआ । वे क्रम-क्रम से बड़े हुए । जिस गुफा में वह सूकर रहता था उसी गुफा में एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्त नामक दो

मुनि आकर ठहर गये । उन्हें देखकर देविल के जीव सूकर को जातिस्मरण हो गया जिससे उसने धर्म श्रवण कर व्रत ग्रहण कर लिये । उसी समय मनुष्यों की गंध को सूधकर मुनियों का भक्षण करने के लिए वह व्याघ्र जो धमिल्ल का जीव था वह वहाँ आ पहुँचा । सूकर उन मुनियों की रक्षा के निमित्त गुफा के द्वार पर खड़ा हो गया । वहाँ भी वे दोनों परस्पर युद्ध कर मरे, सूकर ने मुनियों की रक्षा के अभिप्राय से अच्छे भावों को धारण किया था, इसलिए वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में महान् ऋन्द्रियों को धारण करने वाला देव हुआ । परंतु व्याघ्र मुनियों के भक्षण के अभिप्राय से खोटे भावों को धारण करने से मरकर नरक गया । यह वस्तिदान का फल है ।

गायत्री परिवार द्वारा आयोजित कार्यक्रम में आ. श्री कनकनन्दीजी  
संसंघ विराजमान



## अध्याय 2

### दान् भी अहिंसाक्रत

कृत्मात्मार्थं मुनये, ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।  
अरति-विषाद-विमुक्तः, शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥ 174 ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय  
आत्मार्थं कृतं भक्तं अनं मुनये ददाति । इति पूर्वोक्त प्रकारेण भावितः कृतः त्यागो दानं  
येन सः तस्य पुरुषस्य अहिंसा एव भवति । कीदृशः भावितः त्यागः पुमान् अरति विषाद-  
विमुक्तः । अरति असंतोषः विषादः खेदखिन्नता ताभ्यां विमुक्तः रहितः संतोषी प्रसन्नमनाशच  
अतएव शिथिलितः लोभः शिथिलितः मंदीभूतः लोभो यस्य स ईदृग् विधः पुरुषो भवति । लोभ-  
रहितत्वात् तस्य अहिंसैव दैव भवति ।

*When one gives to a saint, food out of what he has prepared for himself, such thoughtfully offered gift, which is made without any disregard or regret, with suppressed greed, is itself Ahimsa.*

अन्यथार्थ :- (आत्मार्थं कृतं भक्तं) अपने लिये किये हुए भोजन को (मुनये ददाति) मैं श्री मुनि महाराज के लिये दान दूँ (इति भावतः त्यागः) इस प्रकार भावपूर्वक किया हुआ दान (अरति विषादविमुक्तः) अप्रेम और खेद से रहित होता है (शिथिलतलोभः) लोभ कषाय को शिथिल कर देता है इसलिये (अहिंसा एव भवति) वह अहिंसा स्वरूप ही हो जाता है ।

व्याख्या-भावानुवाद :- जो पूर्वोक्त प्रकार से नवधा-भक्ति, सत्तगुणों से युक्त होकर स्वयं के लिये बना हुआ शुद्ध भोजन मुनियों के लिये देता है वह दान उसके लिए अहिंसा रूप ही होता है । जो व्यक्ति अप्रेम/अभक्ति, खेद (विषाद) से रहित होकर संतोष, प्रसन्न चित्त से लोभ को मन्द करता हुआ आहार दान देता है वह अहिंसा व्रती होता है ।

समीक्षा :- इसी ग्रन्थ में आचार्य श्री ने यत्र-तत्र-सर्वत्र हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म एवं सार्वभौम वर्णन किया है । वस्तुतः भाव की कलुषता ही हिंसा है और वह कलुषता लोभ, क्रोध, मान, माया, मिथ्यात्व आदि से आती है ।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार एवं आध्यात्मिक दृष्टि से लोभ-राग सबसे बड़ा पाप है, परिग्रह है, प्रमाद है । इसलिये लोकोक्ति है- “लोभ पाप का वाप बखाना ।” ऐसे लोभ को दूर करके जो पवित्र भक्ति भावना से आहार देता है वह अवश्य अहिंसक है, धर्मात्मा है, त्यागी है, दानी है । मेरा स्वयं का ग्यारह प्रदेश का प्रायोगिक अनुभव यह है कि जो व्यक्ति साधुओं को आहार देते हैं उनका परिणाम अन्य स्वाध्याय, उपवास, पूजादि धार्मिक क्रियाओं को करने वाले व्यक्तियों से अधिक सरल, मृदु, दयालु, परोपकारी, निर्लोभी, त्यागी, दानी होता है । आहार दान से आचार्यों ने चारों प्रकार का दान होता है, ऐसा कहा है क्योंकि क्षुधा-तृष्णा रूपी रोग दूर होने से आहार दान औषधिदान भी है । आहार करके निर्विघ्न अध्ययन करने से ज्ञान दान है तथा इससे जीवित रहा जाता है अतः अभय दान है । इस प्रकार आहार दान को पूजा, वैद्यावृत्ति, सेवा, वात्सल्यभाव, त्याग-दान भी कहा गया है । कुछ लोग जिनवाणी की तोता रटन्त जैसी पढ़ाई करके केवल मस्तिष्क की खुजली दूर करते हैं तथा घमण्ड को बढ़ाते हैं, दूसरों से अनावश्यक वाद-विवाद करके फूट डालते हैं । कुछ लोग मन्दिर की ही सामग्री को ही एक थाली से दूसरी थाली में चढ़ाकर स्वयं को महान् धार्मिक मान लेते हैं और सोचते हैं “मैं पूजा करके भगवान् पर अहसान कर रहा हूँ । मेरे बिना तो भगवान विना सेवा-पूजा के बासी ही रह जाते ।” वे पूजा करते करते पूजा सामग्री को लेकर पूजा की पद्धति को लेकर यहाँ तक की कभी-कभी पाटला, चौकी, स्थान को लेकर, लड़ेंगे-भिड़ेंगे, गाली-गलौज करते रहेंगे और समाज में फूट डालते रहेंगे । कुछ उपवास करने वाले भी चिड़चिड़ करते रहेंगे । उपवास में भी विकथा/कलह आदि करते रहेंगे । परन्तु मेरा अनुभव है कि आहार दान करने वालों में उपर्युक्त दुर्गुण के परिवर्तन में सुगुण पाये जाते हैं । इतना ही नहीं जो आहार दान देते हैं उन्हें अधिक परिश्रम करना पड़ता है, अधिक समय देना पड़ता है और अधिक विवेक से काम करना पड़ता है । आहार देने के लिए सुबह से लेकर मध्याह्न 1 बजे तक परिश्रम करना पड़ता है । शुद्धि, मर्यादा, अन्तराय, पद्धति, भक्ति आदि का ध्यान/विवेक/ज्ञान रखना पड़ता है । भोजन सामग्रियों को, बर्तन, पाटा, चौका, चन्दवा, लकड़ी आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है और उसके लिये धन भी खर्च करना पड़ता है । इतना परिश्रम, इतना ध्यान, इतने सही तरीके से धन का सद्-उपयोग वर्तमान में अन्य क्षेत्र में देखने में नहीं आता है । अन्य क्षेत्र में ज्यादा करके नाम के लिये, दिखाये के लिये काम होता है

परन्तु आहार दान में तथा दान कर्ता में इतनी विकृतियाँ अभी भी नहीं आयी हैं।  
न क्रोधो न च मत्सरो न च मदो माया न कामो।  
न द्वेषो मोहसरागर्दप्तिमदना लोभो भवेत्स्य न ॥  
सम्यक्त्वव्रतगुप्तिपंचसमितिष्वासकितरभ्यासता।  
नित्यं पुण्यविचारता निपुणता दानेषु यत्रादरः ॥ 22 ॥

जिस भव्य को दान देने में आदर है उसको क्रोध, मात्सर्य, मद, माया, काम, द्वेष, मोह, गर्व, विषयाभिलाषा इत्यादि दोष दृष्टित नहीं करते हैं परन्तु सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति इत्यादि पुण्य विचारों में आसक्ति, नित्य पुण्य विषयों का विचार करना, सर्व कार्यों में नैपुण्य इत्यादि गुण उसको प्राप्त होते हैं।

वातञ्जो मलमूत्रकृच्छकहरो दुष्पित्तनुत्पुष्टिकृत् ।  
मेधाबुद्धिवलांगकांतिकरणः पापच्छिदधीप्रदः ॥  
दृग्ज्ञानावरणापहो बहुगुणः शीतः सुसेव्यो बुधैः ।  
गव्याधार इवाप्यद्भगुणदो वर्षनुवत्सादरः ॥ 20 ॥

जिस प्रकार गाय का थी आदि विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह वातरोग को दूर करता है, मलमूत्र के विकार को नष्ट करता है, थकावट को दूर करता है, पित्तोद्रेक को हटाता है, शरीर को बल देता है, मेधा-बुद्धि और शरीर की कांति को बढ़ाता है, प्यास को दूर करता है, अग्नि तेज करता है, दृष्टिदोष, बुन्धविकार इत्यादि दोषों को दूर करता है, वह ठण्डा है, एवं सर्वजनों से सेव्य है उसी प्रकार जो व्यक्ति बहुत आदरपूर्वक दान देता है, उसका पापरूपी वात नाश होता है, उसका कर्ममल नष्ट होता है, उसकी बुद्धि अधिक तेज हो जाती है, पाप का नाश होकर पुण्य की वृद्धि होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म दूर हो जाता है। वह शांत बनता है। विद्वानों द्वारा आदरणीय होता है। इस प्रकार आदरभाव से पात्रदान देने में बहुत से गुण प्राप्त होते हैं।

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्षि खलु गृहविमुक्तानाम् ।  
अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि ॥ 24 ॥

जिन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नहीं है, ऐसे मुनियों के लिये जो दान दिया जाता है वह सावध्य व्यापार सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रूधिर को धो देता

है, नष्ट कर देता है।

उच्चर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।

भक्ते: सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ 25 ॥

तपस्त्रियों को प्रणाम करने से उच्चरोत्र, दानादिक देने से, पड़गाहने से पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप, तथा 'आप ज्ञान के सागर हैं' इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमलमपि काले ।

फलति च्छायाविभवं ब्रहुफलमिष्टं शरीर भृताम् ॥ 26 ॥

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटा-सा वट का बीज संसारी जीवों को बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता है उसी प्रकार उचित समय में सत्यात्र के लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलाषित सुन्दर रूप तथा भोगेषभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है। दानपक्ष में छाया विभवम् का समाप्त इस प्रकार होता है "छाया माहात्म्य विभवः सम्पूर्तौ विद्येते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं" छाया का अर्थ माहात्म्य होता है और विभव का अर्थ संपत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान हैं उस फल को दान देता है। वटबीज पक्ष में छाया का अर्थ अनातप-धामका अभाव होता है और विभव का अर्थ-प्राचुर्य-अधिकता लिया जाता है। "छाया-आतप-निरोधिनी तस्या विभः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं" इस प्रकार क्रिया-विशेषण किया जाता है।

आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने दान को वैयावृत्य/सेवा कहा है "दान वैयावृत्यं" - भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते अर्थात् भोजनादि दान को भी वैयावृत्य कहते हैं। धवला, जयधवला, तत्त्वार्थ सूत्र, भगवती आराधना आदि में वैयावृत्य का सविस्तार वर्णन पाया जाता है। उनमें सविस्तार वर्णन किया गया है कि जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थकर पुण्य प्रकृति का बन्ध करता है और आगे तीर्थकर बनकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके मोक्ष को प्राप्त करता है। तीर्थकर बनने की 16 भावना में से (1) वैयावृत्य के साथ-साथ (2) शक्ति के अनुसार त्याग (3) शक्ति के अनुसार तप (4) आचार्य भक्ति (5) बहुश्रुत भक्ति (6) वात्सल्य भाव ये सब प्रत्यक्ष-परोक्ष या आंशिक रूप से वैयावृत्य/सेवा/भक्ति/दान में गम्भीर हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वैयावृत्य की महानता तथा व्यापकता कितनी श्रेष्ठ/ज्येष्ठ/

गरिष्ठ है। उपर्युक्त वर्णन से वैयावृत्य का महत्व स्पष्ट-प्रतिभासित हो जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने दान के साथ-साथ उनकी शारीरिक सेवादि को भी वैयावृत्य कहा है। यथा :-

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।  
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ 22 ॥

**टीकार्थ :-** - देशब्रती और सकलब्रती के भेद से संयमी दो प्रकार के हैं। इनके ऊपर यदि बिमारी आदि नाना प्रकार की आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुराग से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अङ्गों का मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है वे सब वैयावृत्य नामक शिक्षाब्रत हैं। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टफलकी अपेक्षा से न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्ति के वश की जाती है।

भगवती आराधना जो मुख्यतः मुनियों के लिये रचना की गई है उसमें वर्णन किया गया है कि जो मुनि 6 महीने का उपवास करके पर्वत के ऊपर तप करता है या स्वाध्याय करता है उससे भी श्रेष्ठ वैयावृत्ति करने वाले साधु को कहा गया है। वैयावृत्ति अन्तरंग तप है जैसा कि स्वाध्याय, ध्यान अन्तरंग तप है। रथणसार में कहा है - “दाणं पूजा मुक्खं सावय धर्मे ण सावया तेण विणा” अर्थात् दान पूजा श्रावक धर्म में प्रमुख है और दान, पूजा के बिना कोई श्रावक नहीं होता है। प्रवचनसार में आचार्य कुन्द कुन्द देव ने कहा है कि वैयावृत्ति श्रावक के मुख्य कर्तव्य है तथा साधुओं के गौण कर्तव्य है। तथापि उनमें साधुओं की शुभ क्रिया में वैयावृत्ति का स्थान बहुत महत्वपूर्ण बताया है। यथा -

उवकुण्डि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।

कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ 249 ॥ प्र. सार

(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णस्स समणसंघस्य) चार प्रकार साधु संघ का (णिच्चं) नित्य (कायविराधणरहिदं) छहकाय के प्राणियों की विराधना से रहित क्रिया द्वारा (उपकुण्डि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो) शुभोपयोगीधारियों में मुख्य होता है।

**समीक्षा :-** कुंदकुंद देव ने इस गाथा में सिन्दृ किया है कि जो चतुर्विध संघ का उपकार करता है, वह धर्मानुरागी में श्रेष्ठ है। इससे सिन्दृ होता है कि चतुर्थ

गुणस्थानवर्ती से लेकर छड़े गुणस्थानवर्ती श्रमण तक का कर्तव्य धर्मात्मा का उपकार करना है। तुलसीदास ने कहा है :-

परोपकार सम धर्म नहि भाई ।

नीतिकार व्यास ने भी कहा है -

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं ।

परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

व्यास जी कहते हैं 18 पुराणों व 4 वेदों का संकलन मैने दो वाक्यों में किया “परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनम् ।” पुण्य धर्म क्या है ? कर्तव्य, परोपकार। अधर्म क्या है ? अनीति, पाप, पर अपकार। हमारे आचार्यों ने भी कहा है -

इलोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः ।

परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

रहिमन कवि ने कहा भी है -

तरुवर फल नहि खात है, नदी न संचै नीर ।

रहिमन पर के काज हित, सज्जन धरै शरीर ॥

प्राचीन नीतिकारों ने भी कहा है -

परोपकाराय फलांति वृक्षा परोपकाराय वहन्ति नद्याः ।

परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय सतां प्रवृत्तयः ॥

परोपकार के लिये जीवन भर वृक्ष, जीवन शक्ति प्रदायक अमृत तुल्य उत्तमोत्तम फल देते हैं। परोपकार के लिए नदियाँ शीतल मधुर जल लेकर बहती हैं। परोपकार के लिये गाय अमृत तुल्य दूध जीवन भर देती हैं। इसी प्रकार परोपकार के लिए सज्जन सतत प्रयत्नशील रहता है।

वैयावृत्ति का वर्णन भगवती आराधना में निम्न प्रकार से किया है -

सतीए भत्तीए विज्ञावच्चुञ्जदा सदा होइ ।

आणाए णिज्जरिति य सबालउड्हाउले गच्छे ॥ 306 ॥

बालमुनि और वृद्धमुनियों से भरे हुए इस गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्ति करने में तत्पर रहो। सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्ति तप है और तप से निर्जरा होती है।

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवगगहिदे ।

आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥ 307 ॥

सोने के स्थान, बैठने के स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषधि का देना स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनि के शरीर का शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य हैं।

अध्दाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ।

वेज्जावच्चं उत्तं सगहसारक्खणोवेदं ॥ 308 ॥

जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना। जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी को रोकने वालों से और भारी रोग से जो पीड़ित हैं विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्ष में फँसे हैं उन्हें सुभिक्ष देश में लाना 'आप न डरें' इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य बंधाना तथा उनका संरक्षण करने को वैयावृत्य कहा है।

### वैयावृत्य न करने की निन्दा

अणिगुहिदवलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ।

जदिण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिधदम्मो ॥ 309 ॥

अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्ति नहीं करता है तो वह धर्म से बहिष्कृत हो जाता है यह इस गाथा का अभिप्राय है।

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविधारणा अणायारो ।

अप्पारोपवयणं च तेण णिज्जूहिंद होदि ॥ 310 ॥

वैयावृत्य न करने से तीर्थकरों की आज्ञा का भंग होता है। शास्त्र में कहे गये धर्म का नाश होता है। आचार का लोप होता है और उस व्यक्ति के द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करने से आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति में उपकार न करने से मुनिवर्ग का त्याग होता है और शास्त्र आचरण न करने से आगम का त्याग होता है।

गुणपरिणामो सङ्घावच्छलं भत्तिपत्तलंभो य ?

संधाणं तव पूया अव्वो च्छत्ती समाधी य ॥ 311 ॥

वैयावृत्य करने का पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है उसकी पीड़ित साधु के गुणों में वासना होती है कि मैं भी ऐसा बनूँ और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणों में विशेष प्रवृत्ति होती

है। इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्र का लाभ, सन्धान, अपने में गुण पूजा, छूट गये हैं इनका पुनः आरोपण, तप, धर्म, तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि ये गुण हैं।

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।

वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ 312 ॥

सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है। आज्ञा पालन से आज्ञा संयम होता है। वैयावृत्य करने वाले का उपकार होता है। निर्दोष रलत्रय का दान होता है। संयम में सहायता होती है। विचिकित्सा ग्लानि दूर होती है। धर्म की प्रभावना होती है और कार्य का निर्वाह होता है।

इय दद्गुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ।

वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥ 312 ॥

इस प्रकार ऊपर कहे गये यति के गुणों में जिसका परिणाम दृढ़ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यति में जो गुण हैं यदि मैं इनकी सेवा न करूँगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे। ऐसा जो चित्त में विचारता है वह उन गुणों में परिणत होता है। और जिसकी सेवा की है उसकी गुणों में परिणति होती है अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वयं उन गुणों से च्युत नहीं होता। अतः अपने और दूसरों के उपकार के लिए वैयावृत्य कहा है।

जह जह गुणपरिणामो तह तह आशहइ धम्मगुणसेद्धि ।

वङ्घदिदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसङ्घावि ॥ 317 ॥

जैसे—जैसे गुण परिणाम होते हैं वैसे—वैसे चारित्ररूप गुणों की सीढ़ी पर चढ़ता है, और जिनेन्द्र के मार्ग में नई—नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है। यहाँ गुण शब्द से गुणों को विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता है जैसे—जैसे यति के गुणों का स्मरण होता है वैसे—वैसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है। जो यति के गुणों को भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता। उनके गुणों का स्मरण करने से उनमें रुचि पैदा होती है। भव्य जीव गुणों के अनुरागी होते हैं। संसार से भय और श्रद्धा यति को रलत्रय में दृढ़ करती है। इस गाथा से श्रद्धा गुण का कथन किया। आगे कहते हैं कि गुणों के स्मरण से उनमें रुचि होती है। रुचि बढ़ने पर सम्यग्दर्शन का वात्सल्य नामक गुण होता है—

सद्गुणे बड़िदयाए वच्छल्ल भावदो उक्कमदि ।

तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥ 318 ॥

ऋद्वा के बढ़ने पर मुनि मन से वात्सल्य करते हैं। उससे धर्म में तीव्र राग होता है। धर्म में तीव्र राग समस्त जगत् में जो इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है। अथवा धर्म में तीव्र राग रखने वाला यति सब सुख को प्राप्त होता है। इस गाथा से वात्सल्य का कथन किया।

### वैयावृत्य भी भक्ति

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ।

आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य ॥ 319 ॥

इस भव से पूर्व तीसरे भव में दर्शनविशुद्धि आदि परिणाम विशेष से जिसने तीर्थकरत्व नामक अतिशयशाली कर्म का बंध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पांच महाकल्याण का भागी है, जो कल्याण किसी अन्य को प्राप्त नहीं होते, धातिकर्मों के विनाश से जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्यों के स्वरूप को प्रकाशित करने में पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्र मोह के क्षय से जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्म के प्रक्षय से जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसार का अन्त आ गया है उन भव्य जीवों का उन्नार करने की प्रतिज्ञा से जो बन्दू हैं, जो आठ महाप्रतिहार्य और 34 अतिशय विशेष से युक्त हैं वे अहन्त हैं। मिथ्यात्व आदि से परिणामों में आये आठ कर्मों के बन्धन से जो छूट चुके हैं, जो अजर, अमर, अव्यावाध गुण से युक्त हैं, अनुपम अनन्त सुख से शोभित हैं, जिसके सदा प्रज्ञवलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार हैं और जिन्होंने परमात्मा अवस्था को पा लिया है वे सिन्दू हैं। इन अहन्तों और सिन्दूओं की भक्ति अरिहन्त-सिद्ध भक्ति है। गुरु शब्द से यहाँ आचार्य, उपाध्याय का ग्रहण किया है। इनकी भक्ति गुरु भक्ति है और सर्वसाधुओं की भक्ति तथा प्रधान धर्म रलत्रय में सम्पूर्ण निर्मल भक्ति। इन अहन्त आदि का ऊपर कहे अनुसार वैयावृत्य करने से उनकी भक्ति की गई जानना। रलत्रय के धारकों का उपकार करने से उनका आदर ही उनकी भक्ति है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्य से अहन्त आदि में भक्ति व्यक्त होती है।

### वैयावृत्य का एक गुण पात्र लाभ

पंचमहव्ययगुत्तो णिगगहिदकसायवेदणो दंतो ।

लब्धदि दु पत्तभूदो णाणासुदरयणिधिभूदो ॥ 321 ॥

वैयावृत्य करने से पाँच महाप्रतों के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने वाला, कषाय वेदना का निय्रह करने वाला कषाय आत्मा को संतप्त करता है इसे वेदना कहा है। दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्त्व को जानने से वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावना से राग शान्त होता है। इससे दन्त कहा है तथा जो नाना प्रकार के शास्त्रों रूपी रत्नों का निधि है, नाना शास्त्रों का ज्ञाता है ऐसा पात्र प्राप्त होता है अर्थात् वैयावृत्य करने वाले को वैयावृत्य के लिए ऐसे सत्यात्र मुनि प्राप्त होते हैं यह एक महान् लाभ है।

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ ।

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥ 322 ॥

किसी निमित्त से सम्यग्दर्शन आदि में कोई त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र में पुनः नियुक्ति हो जाती है। अतः उसी वैयावृत्यकारी के द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रलत्रय में पुनः स्थिति होती है। इससे दोनों का ही लाभ है। इस गाथा के द्वारा संधान पद का व्याख्यान किया गया है।

वेज्जवच्चकरोपुण अणुत्तरं तवसमाधिमारुदो ।

पफ्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्म ॥ 328 ॥

वैयावृत्य करने वाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्ट देने वाले कर्मों की निर्जरा करता हुआ विहार करता है।

जिणासिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवद्वमाणगदा ।

विविहेण सुद्धमदिणा सब्वे अभिपूइया होंति ॥ 324 ॥

शुद्धचित्त से वैयावृत्य करने वाले के द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सब तीर्थकर, सिद्ध, साधु और धर्म, मन-वचन-काय से पूजित होते हैं। तीर्थकरों की आज्ञा के पालन से सभी तीर्थकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं। तथा दस प्रकार के धर्मों में एक तप धर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है। अतः वैयावृत्य में आदर भाव रखने तथा वैयावृत्य करने से धर्म पूजित होता है।

आइरियधारणाए संघो सब्बो वि धारिओ होइ ।  
संघस्स धारणाए अब्बोच्छिति कया होइ ॥ 325 ॥

आचार्य का धारण करने से समस्त संघ धारित होता है क्योंकि आचार्य रलत्रय ग्रहण करते हैं और जो साधु रलत्रय को धारण किये हुए होते हैं उन्हें उसमें दृढ़ करते हैं। उत्पन्न हुए अतिचारों को दूर करते हैं। आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ही संघ गुणों के समूह को धारण करता है अतः आचार्य के धारण से संघ का धारण होता है। आचार्य के बिना संघ का धारण सम्भव नहीं है। संघ के धारण से अभ्युदय और मोक्ष के सुख का साधन जो धर्म है उस धर्म तीर्थ का विच्छेद नहीं होता। उपाध्याय आदि सभी समस्त कर्मों के विनाश की साधना करते हैं, इसलिए साधु शब्द से उन सबका ग्रहण होता है।

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ।  
साधु चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ 326 ॥

जैसे आचार्य की धारणा में संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

शंका – एक साधु की धारणा से सब साधु समुदाय की धारणा कैसे हो सकती है? क्योंकि समुदाय और व्यक्ति में तो भेद है?

समाधान – साधु ही संघ है। साधुओं से भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है। समुदाय और उसके अवयव व्यक्ति में कथंचित् अभेद होता है। यह इन गाथाओं के द्वारा माना है।

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण।  
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगौहिया होइ ॥ 327 ॥

त्रन्दा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा, तीर्थ की अव्युच्छिति इत्यादि गुणों का उल्कृष्ट क्रम के साथ आचरण करने वाले मुनि को जो सिद्धि सुख में एकाग्रता है वह भी प्राप्त होती है, क्योंकि कार्य में समाधान हुए बिना कारण में आदर नहीं होता। यदि चित्त में घट बनाने की भावना न हो तो उसके उपायभूत जो दण्ड आदि कारण हैं उनमें मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता। यहाँ गुण परिणाम आदि सिद्धि सुख के उपाय हैं। सिद्धिसुख में एकाग्रता के बिना उपाय नहीं हो सकते। यह अभिप्राय है।

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होइति ।

णिगहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥ 328 ॥

जो वैयावृत्य करता है तीर्थकरों की आज्ञा का पालन करता है। इस कथन में गाथा के “आणा” पद का व्याख्यान किया गया है। संयम योग का पालन होता है। इस कथन में संयम पद का व्याख्यान किया गया है, क्योंकि आचार्य आदि का संयम के साथ सम्बन्ध है। जो आचार्य आदि-व्याधि से पीड़ित होते हैं और बिना संक्लेश के रोग परिषह को सहने में असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करने से संयम की रक्षा होती है। अथवा ‘संयम योग’ अर्थात् अनशन आदि तप के भेदों की रक्षा होती है। अपने भी और दूसरों के तप की भी रक्षा होती है। दूसरों से वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करने की अनुमोदना करके स्वास्थ्य को प्राप्त कर अपने तप की रक्षा करता है तथा दूसरों की आपत्ति को दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करने पर उनकी संयम की रक्षा होती है। दूसरों की सहायता का कथन गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं। उसमें ‘जाहा’ पद का अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है – यतः वैयावृत्य करने वाला कषाय और इन्द्रियों के दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करता है। अतः वह दूसरों को सहायता प्रदान करता है।

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिग्ंच्छादरिसिदा होइ ।

पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकञ्जं च ॥ 329 ॥

वैयावृत्य करने वाला उक्त प्रकार से दूसरे साधुओं को रलत्रय का दान करता है इसलिए वह सातिशय दान का दाता होता है। तथा वैयावृत्य से सम्यादर्शन का निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीर का मल-मूत्रादि बिना ग्लानि के उठाने से द्रव्य विचिकित्सा दूर होती है। आगम में कहे हुए धर्म का पालन करने से प्रवचन की प्रभावना भी होती है और संघ का जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इन गाथा में ‘कज्जपुण्णाणि’ पद का व्याख्यान किया गया है।

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ।

तित्थ्यरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥ 330 ॥

वैयावृत्य में तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थकर नामक पुण्यकर्म का बंध करता है जो तीनों लोकों में हलचल पैदा करता है।

एदे गुणा महल्ला वेजावच्चुज्जदस्स बहुयाय ।  
अप्पट्टिदो हु जायदि सज्जायं चेव कुव्वंतो ॥ 331 ॥

वैयावृत्य में तत्पर साधु में बहुत से गुण होते हैं । जो केवल स्वाध्याय ही करता है वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है किन्तु वैयावृत्य करने वाला अपना और दूसरों का उपकार करता है अर्थात् केवल स्वाध्याय करने वाले साधु से वैयावृत्य करने वाला विशिष्ट होता है । स्वाध्याय करने वाले साधु पर यदि विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करने वाले साधु का ही मुँह ताकना पड़ता है ।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीर की पुष्टि के लिए शिष्यादिकों के मोह में पड़कर उनके लिए पाप कर्म या हिंसाकर्म की इच्छा नहीं रखता है उसके यह व्याख्यान शोभनीय है । परन्तु यदि वह अपने व दूसरों के लिए पापकर्म की इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म कार्य की अपेक्षा से नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है । मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा ।

यहाँ पर आचार्यश्री ने संसारी भोगवादी, आलसी व्यक्तियों के सम्बन्धी मनोविज्ञान का नग्न जीवन्त रूप प्रकट किया है । अधिकांश संसारी मोही जीव उपरोक्त सिद्धान्त को मनसा-वचसा प्रयोग में लाते हैं । अर्थात् वे राग-भोग, धनोपार्जन, स्वार्थसिद्धि के समय में अनर्गत रूप से हिंसा करता है, पाप करता है परन्तु जब धर्मकार्य का अवसर आता है तब वह हिंसा का बहाना लेकर उस धर्मकार्य से विमुख हो जाता है । नीतिकार ने कहा भी है :-

भोगरागं स्वयुवति सुखं नित्यमिच्छन्ति जैनाः ।

दानंपूजादिकुरु -कुरु न मे नोऽद्य वारो वन्देन्न ॥

नामधारी जैन, इन्द्रिय जनित भोग, राग-रंग, युवति जनित सुख को तो नित्य-चाहता है, परंतु जब दानादि, धार्मिक कार्य का अवसर आता है तब धर्म से विमुख हो अनेक बहाने बनाता है और कहता है आज का वार अच्छा नहीं है कल करेंगे । एक कवि ने कहा भी है -

प्रभु भजन को आलसी भोजन को तैयार ।

ऐसे मूढ़ नरन को बार-बार धिक्कार ॥

ऐसा मूढ़ व्यक्ति भोग के लिए सर्वदा जागृत रहता है, कटिबद्ध रहता है, अनालसी रहता है ।

भोग के लिए उसका सिद्धान्त है -

कल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।

पल में प्रलय होयेगी, बहुरि करेगा कब ॥

परन्तु ऐसे भोगवादी का सिद्धान्त धर्म करने के लिए दूसरा है -

आज करे सो काल कर, कल करे सो परसों ।

जल्दी-जल्दी क्या पड़ी है, जिन्दा रहना है बरसों ॥

संसारी जीव मोह, राग, द्वेष से प्रेरित होकर जो कार्य करता है वह स्वघात के लिए होता है, क्योंकि जो आत्मा के लिए उपकारक होता है वह शरीर के लिए अपकारक होता है तथा जो आत्मा के लिए अपकारक होता है वह शरीर के लिए उपकारक होता है । भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में कहा भी है -

भोगा न भुक्तो वयमेव भुक्ता - स्तपो न तप्तं वयमेव तप्तः ।

कालो न यातो वयमेव याता-स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥ 12 ॥

हम विषयों को न भोग सके, विषयों ने हमें भोग लिया । हम तप नहीं कर सके परन्तु तप ने ही हमें तपा लिया । काल व्यतीत नहीं हुआ परन्तु हम ही व्यतीत हो गए । तृष्णा समाप्त नहीं हुई परन्तु हम ही समाप्त हो गये ।

इसलिए तो जैनाचार्यों ने कहा - यह मोही अङ्गानी जीव विषय भोग के लिए जितना अध्यवसाय कर चुका है, उसके अनंतवें भाग भी यदि आत्मकल्याण के लिए पुरुषार्थ करता है तो अब तक उसे शाश्वतिक सुख मिल जाता । परन्तु मोह का माहात्म्य ही ऐसा है कि जीव विषय, रागद्वेष के कार्य चाव से इच्छा पूर्वक करता है परन्तु धार्मिक कार्य से विमुख रहता है परन्तु बाहर से स्वयं को धार्मिक बताने के लिए, जताने के लिये सम्यक् धार्मिक क्रियाओं में दोषारोपण कर उन धार्मिक क्रियाओं से विमुख रहता है । इसलिए हमारे आचार्य ने आह्वान किया है -

असद्विधाविनोदेनमात्मान मूढ़ वंचय ।

कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वनरम् ॥ 3 ॥

हे मूर्ख ! तू मिथ्या ज्ञान में अनुरक्त होकर स्वयं को मत ठग किन्तु जिसमें आत्महित होता है ऐसे योग्य कार्य को कर । क्या तू संसार की सब बातों को, इन्द्रियों को मुग्ध करने वाले विषय भोगादिकों को नश्वर नहीं जानता ? अर्थात् तुझे समझ लेना चाहिए कि संसार के सब ही पदार्थ नष्ट होने वाले हैं, यहाँ स्थिर कुछ भी नहीं है ।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने ऐसे ही भोगवादी आलसियों को आद्वान करते हुए सम्बोधित किया है कि –

अद्य श्वो वा परस्मिन्वा दिने धर्म करोम्यहम् ।  
चित्तयन्ति जना एव क्षणं न सहते यमः ॥ 95 ॥

मैं आज नहीं तो कल व परसों अवश्य ही धर्माचरण धारण करूँगा इस प्रकार अनेक जन विचार करते हैं परन्तु मृत्यु तो क्षणभर भी धीरज नहीं धरती इसका विचार कोई नहीं करता ।

कालक्षेपो न कर्तव्यं आयुः क्षीणं दिने दिने ।  
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ 96 ॥

अब व्यर्थ ही कालक्षेप करना ठीक नहीं है, क्योंकि आयु क्षण-क्षण में बीती जाती है । यमराज को दया नहीं है । इस कारण धर्म को शीघ्र ही धारण करना चाहिए ।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।  
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ 97 ॥

शरीर अनित्य है, वैभव भी सदा नहीं रहता है मृत्यु सिर पर (धेरा दे) मंडरा रही है इस कारण धर्म का संग्रह शीघ्र ही करना चाहिए ।

जीवंतं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितं ।  
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवि भविष्यति ॥ 98 ॥

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि – जो धर्म रहित है मैं उन मनुष्यों को जीवित रहते हुए भी मरा हुआ ही मानता हूँ और जो मनुष्य धर्म सहित मर गया है उसे मैं दीर्घजीवी अर्थात् जीवित ही मानता हूँ ।

### अल्पबंधक परोपकार भी करणीय

जोणहाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुजाणं ।  
अणुकंपयोवयारं कुब्बदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ 251 ॥

यद्यपि अल्प कर्मबंध होता है तथापि शुभोपयोगी पुरुष निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलनेवाले श्रावकों की तथा मुनियों की सेवा व उनके साथ दयापूर्वक धर्म प्रेम या उपकार शुद्धात्मा की भावना को विनाश करने वाले प्रसिद्धि पूजा लाभ की इच्छा आदि भावों से रहित होकर करें ।

समीक्षा :- इस गाथा में कुंदकुंद आचार्य ने एक विकल्पात्मक महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती तब तक शुभोपयोग में इच्छापूर्वक, उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करो, भले उससे आनुषंगिक रूप में थोड़ा बंध भी क्यों न हो । जैसे कृषक व्यापारी आदि पहले बीज, पूँजी आदि खर्च करते हैं परन्तु उसके फलस्वरूप आगे जाकर अधिक लाभ होता है । यदि पहले बीज या पूँजी के भय से कृषि या व्यापार नहीं किया जायेगा तो अधिक लाभ से वंचित रहना पड़ेगा । आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तीर्थकरों की स्तुति करते हुए कहा है – हे भगवान ! जो आपकी द्रव्यादि से पूजा करते हैं उन्हें थोड़ा पाप बंध होता है पर वह पाप बंध दोषकारी नहीं है, क्योंकि उससे अधिक पुण्य का संचय होता है । यथा –

पूज्यं जिनं त्वार्चयतोजनस्य सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ ।  
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ 3 ॥

हे भगवान ! इन्द्र आदि के द्वारा पूजनीय तथा कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाले मनुष्य के जो सराग परिणति अथवा आरम्भादि जनित थोड़ा सा पाप का लेश होता है वह बहुत भारी पुण्य की राशि में दोष के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि विष की अल्पमात्रा शीतल एवं आहलादकारी जल से युक्त समुद्र में दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है ।

धर्म निर्मूलं विद्धवंस सहन्ते न प्रभावका ।  
विना सावद्य लेशेन न स्याद्वधर्मप्रभावना ॥

धर्म निर्मूल विनाश को धर्मवीर, कर्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रभावक, तेजस्वी व्यक्ति सहन नहीं करते हैं । धर्म की प्रभावना के लिए निर्मल भावना से कार्य करते हुए आनुषंगिक रूप से जो पाप बंध हो जाता है वह दोषकारक नहीं होता है । उदाहरण के लिए मन्दिर बनाने, मूर्ति बनाने, तीर्थयात्रा, आहार दान देने में, पंचकल्याणक पूजादि में अवश्य ही कुछ न कुछ पाप बंध होता ही है । पर वह पाप पुण्य के समक्ष अत्यन्त अल्प होने के कारण नहीं के बराबर है । इसका मुख्य कारण है भाव । भाव से ही पाप बंध, पुण्य बंध एवं निर्जरा होती है । एक धीवर मछली पकड़ने के लिए दिनभर जलाशय में जाल बिछाता है परन्तु एक भी मछली पकड़ नहीं पाता तथापि वह पापी है । कृषक के खेत में काम करते करते लाखों-करोड़ों जीव मरने के बाद भी धीवर के जैसा पापी नहीं है ।

## सेवा वैयावृति हेतु सुयोग्य समय

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रुदं ।  
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जु आदसत्तीए ॥ 252 ॥

जो रलत्रय की भावना से अपनी आत्मा को साधता है वह साधु है । ऐसा साधु कभी दूसरे श्रमण को जो जीवन मरण, लाभ-अलाभ आदि में संभावना को रखने वाला है । ऐसे साधु को रोग से पीड़ित देखकर, जो रोग अनाकुलतारूप परमात्मस्वरूप से विलक्षण आकुलता को पैदा करने वाला है, या भूख प्यास से निर्बल जानकर या मार्ग की थकान से वा मास, पक्ष आदि उपवास की गर्मी से असमर्थ समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करे । तात्पर्य यह है कि अपनी आत्मा की भावना के घातक रोग आदि के अवसर पर वैयावृत्य करना साधु का कर्तव्य है तथा शेषकाल में अपना चारित्र पाले ।

**समीक्षा :-** वैयावृत्य या सेवा करना श्रावक का श्रेष्ठ कर्तव्य होते हुए भी यह सेवा अयोग्य समय में अयोग्य व्यक्ति की नहीं करनी चाहिए । क्योंकि अयोग्य समय में अयोग्य व्यक्ति के लिये की गई सेवा यथार्थ नहीं है ‘निकी के फीकी लगे बिना अवसर की बात’ अर्थात् अच्छे कार्य भी अयोग्य समय में फीके हो जाते हैं जैसे जिसका पेट भरा है उसे बलपूर्वक भोजन कराना भोजन करने वाले के लिए घातक होजाता है । इसी प्रकार जो स्वरस्थ है और जिनको सेवा की आवश्यकता नहीं है उसकी सेवा करना मानो सेव्य एवं सेवकों के लिये घातक है क्योंकि इसमें दोनों का समय अपव्यय होता है एवं शक्ति का दुरुपयोग भी होता है । जो अस्वस्थ हैं उसकी सेवा करना चाहिए ।

## सेवार्थी लौकिक जनों के साथ संभाषण-विधेय

वेज्जावच्चणिभित्तं गिलाणगुरुवालबुद्धसमणाणं ।  
लोगिगजणसंभासा ण पिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ 253 ॥

(वा) अथवा (गिलाणगुरुवालबुद्धसमणाणं) रोगी मुनि, गुरु अर्थात् स्थूलकाय मुनि या पूज्य मुनि, बालक मुनि तथा वृद्ध मुनि की (वेज्जावच्चणिभित्तं) वैयावृत्य के लिए (सुहोवजुदा) शुभोपयोगी मुनि को (लोगिगजणसंभासा) लौकिक जनों के साथ भाषण (पिंदिदा ण) निषिद्ध नहीं है ।

**समीक्षा:-** श्रमण का एक विशेषण मुनि भी है अर्थात् जो मौनपूर्वक आत्मसाधना में लवलीन रहता है उसे मुनि कहते हैं । अधिक वार्तालाप करने से राग द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है । मन विक्षिप्त हो सकता है, मन एवं शक्ति का दुरुपयोग हो सकता है । इसलिए श्रमणों के लिए (1) सत्य धर्म (2) सत्य महाव्रत (3) भाषा समिति (4) वचन गुमिलुपी चार-चार मर्यादाओं की सीमाओं में मर्यादित किया गया है । श्रमण को किस प्रकार किस तरह से कैसे वार्तालाप करना चाहिए इसका वर्णन वीरनंदी आचार्य ने सिद्धान्तसार में किया है -

**उक्ति: कार्यो सहाचार्ये: कार्यर्थं शेषवयोगिभिः ।**

**न मिथ्यादृष्टिभिर्भज्या श्रावकैः स्वजनैश्च सा ॥ 69 ॥**

मुनि आचार्य के साथ वार्तालाप कर शेष मुनि के साथ कोई कार्य विशेष हो तो वार्तालाप करें । मिथ्यादृष्टियों के साथ कभी भी वार्तालाप न करें । जिन धर्मावलम्बी श्रावकों के साथ कभी किसी कार्यवश बात करें और निष्प्रयोजन कभी भी वार्तालाप न करें ।

तथापि कुंदकुंद देव ने इस गाथा में सेवा के लिए लौकिक जन के साथ संभाषण के लिए निषेध नहीं किया है । इससे सिद्ध होता है कि सेवा के लौकिक जन से संभाषण भी दोषकारक नहीं है । अतः पारिशेष न्याय से सिद्ध होता है कि सेवा श्रमण एवं श्रावक के लिए महानतम कार्य है । प्रायश्चित्त शास्त्र में तो यहाँ तक लिखा है कि अति रोगी साधु के लिए चिकित्सा करने जब विशेष वैद्य आता है तब आचार्यश्री खड़े हो जाते हैं । उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ विरोधाभास प्रतीत होता है, परन्तु यह विरोधाभास नहीं है क्योंकि अकारण साधु कोई कार्य नहीं करते, परन्तु धार्मिक जनों की रक्षा के लिए, धर्म की प्रभावना के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव को देखकर सम्यादर्शन ज्ञान-चारित्र में दोष न लगे ऐसी क्रियाएँ करते हैं ।

**सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिकोः विधिः ।**

**यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम् ॥**

निःसन्देह जैन धर्मानुयायियों के वे समस्त विधि विधान प्रमाण हैं जिससे उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है और चारित्र दूषित नहीं होता ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधु सेवा के लिए लौकिक जन संभाषण दूषण नहीं परन्तु भूषण है । इसके छल से कोई यदि व्यर्थ अनर्गल, अनावश्यक लौकिक जन से संभाषण करना तो दूर रहे धार्मिक जन से भी संभाषण करेगा

तो वह अयोग्य और शिथिलाचार का पोषक होगा । वर्तमान काल में साधु रात को नहीं बोलते यह अति उत्तम है क्योंकि रात में सूक्ष्म जीवों का संचार अधिक होता है जिससे जीव की हिंसा हो सकती है तथा ध्यान, अध्ययन, मनन चिंतन में बाधा पहुंच सकती है । परन्तु आवश्यकवशतः धार्मिक कार्य के लिए कंथचित् कोई बोलता है तो विशेष दोष कारक नहीं हैं ।

## शुभोपयोग श्रावकों के लिए मुख्य एवं श्रमणों के लिए गौण

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।  
चरिया परेति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥ 254 ॥

तपोथन दूसरें साधुओं की वैयावृत्य करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावृत्य करते हैं वह पापारम्भ व हिंसा से रहत होती हैं तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते हैं । शेष औषधि, अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है इसीलिए वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म हैं । किन्तु साधुओं का गौण है । दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त और रौद्र ध्यान में परिणमने वाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है । यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करें तो खोटे ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की संगति से गृहस्थों को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ, परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं, ऐसा गाथा का अभिप्राय है ।

**समीक्षा :-** इस गाथा में कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि भले गृहस्थ एवं श्रमण दोनों शुभोपयोग में रहते हैं तथापि शुभोपयोग- क्रियाओं की मुख्यता श्रावकों की रहती है । शुभोपयोग चतुर्थ गुण स्थान से लेकर श्रेणी आरोहण से पहले तक मुख्यतया से रहता है । तथापि सत्तम गुणस्थान में अधिक शुभोपयोग रहता है । परन्तु शुभोपयोग की क्रियाएँ 5 वें गुणस्थान (श्रावक) में अधिक होती हैं । भले पंचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और एक देश चारित्र भी है तथापि चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से वह सर्वविरति को प्राप्त नहीं हो पाता है जिसके कारण गृह में रहकर असि, मसि, कृषि, गृहादि कार्य एवं विषयभोग भी करता है । जिससे

वह विशेष पापाश्रव करता है । उस पाप को धोने के लिए वह वैयावृत्ति आदि विशेष रूप में करता है । कहा भी है -

त्याज्यानजस्त्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया ।  
मोहात्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥

जिसके मिथ्यात्व कर्म का नाश हो गया है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जिसकी हेयोपादान का ज्ञान हो गया है, जिससे वह सम्यादृष्टि भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से सांसारिक पंचेन्द्रिय विषयों को निरन्तर हेय समझता है/ दुःख का कारण मानता है, मिथ्यादृष्टि के समान सांसारिक विषयभोगों में लीन/तल्लीन नहीं होता । तथापि प्रत्याख्यानावरण लक्षण चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उसको छोड़ने में असमर्थ है ऐसे भव्य जीवों को आचार्यों ने गृहस्थ धर्म पालन का उपदेश दिया है ।

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहु ण वि पूज्जिउ जिण णाहु ।  
पंच ण वंदिय परम गुरु किमु होसइ सिव लाहु ॥

आहार, औषधि, शास्त्र और अभ्यदान-ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय व्यवहार रलत्रय के आराधक जो यति आदिक को चार प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया । इंद्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदि द्वारा पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणों से पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की । जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की । और तीन लोक द्वारा वन्दने योग्य ऐसे अरहंत सिन्धु, आचार्य, उपाध्याय साधु इन पंच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की । सो हे जीव ! इन कार्यों के बिना तुझे शिव का लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय हैं । जिनपूजा, पंच परमेष्ठि की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती । कुंदकुंद देव ने बारस अणुपेक्खा में कहा है -

पुत्त कलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पाव बुद्धीए ।  
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे ॥

यह संसारी जीव पुत्र और स्त्री के निमित्त से पाप बुद्धि से धन कमाता है तथा दया और दान को छोड़ देता है । वह जीव संसार में भ्रमण करता है ।

जो गृहस्थ व्यापार में भोग-राग में विषय वासना में लिप्त होता हुआ भी श्रावक -योग्य दान पूजादि धर्म को नहीं करता तथा एकांत आध्यात्मिक वाद

का सहारा लेकर श्रावक योग्य क्रियाओं से पुण्य बंध होता है और पुण्य संसार का कारण मानकर पुण्य क्रिया से रहित हो पाप क्रियाओं में रत रहता है उसके लिए देवसेनाचार्य ने भाव संग्रह में निम्न प्रकार कहा है –

मुक्तं धर्मज्ञाणं उत्तं तु पम्मायविरहिए ठाणे ।  
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायब्वं ॥

यह धर्मध्यान मुख्यता से प्रमाद से रहित सातवें गुणस्थान में होता है तथा देश विरत पाँचवे गुणस्थान में और प्रमत्त संयम छठे गुणस्थान में यही धर्मध्यान उपचार से होता है ।

एवं तं सालंबं धर्मज्ञाणं हवेइ नियमेण ।  
इयंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं ॥

इन पंचपरमेष्ठियों का ध्यान नियम पूर्वक आवलम्बन सहित धर्मध्यान कहलाता है । इन पाँचों परमेष्ठियों का ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है ।

जो भणइ को वि एवं अतिथि गिहत्थाण णिच्चलं ज्ञाणं ।  
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जडणो ॥

यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालंब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिए कि इस प्रकार कहने वाला मनुष्य मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता है ।

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतगंथपरमिओ णिच्चं ।  
वहु आरम्भपउत्तो कह ज्ञायइ शुद्धपाणं ॥

गृहस्थों के मुख्य धर्मध्यान न होने का कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रूप से रहते हैं । तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं इसलिए वह शुद्ध आत्मा का ज्ञान कभी नहीं कर सकता ।

घर बाबारा केइ करणीया अतिथि तेण ते सब्वे ।  
ज्ञाणठियस पुरओ चिदुंति णिमीलियच्छस्स ॥

गृहस्थों को घर के कितने ही काम करने पड़ते हैं । जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बन्द कर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार स्मरण में आ जाते हैं ।

अह ढिंकुलियां ज्ञाणं ज्ञायदं अहवा स सोवए ज्ञाणो ।

सोवंतो ज्ञायब्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥

जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेकी के समान होता है । जिस प्रकार ढेकी धान कूटने में लगी रहती है परन्तु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है । इसी प्रकार गृहस्थों का निरालंब ध्यान वा शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है । वह सो जाता है तब उसके चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी ठहर नहीं सकती । इसी प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता ।

ज्ञाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स ज्ञाणस्य ।

आलंबण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा ॥

अथवा वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतान रूप परम्परा चलती रहती है । इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करने वाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता ।

तम्हा सो सालंबं ज्ञायउ ज्ञाणं पि गिहवई णिच्चं ।

पंच परमेष्ठिरूप अहवा मंतक्खरं तेसि ॥

इसलिए गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना चाहिए । या तो उसे पंचपरमेष्ठि का ध्यान करना चाहिए अथवा पंच परमेष्ठि के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिए ।

### अहिंसा के लिये अतिथि संविभाग व्रत

विधिना दातुगुणवता, द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।

स्व-पराजनुग्रह हेतोः कर्त्तव्यऽवश्यमतिथये भागः ॥ 167 ॥

वर्तमान अतिथि संविभाग व्रत का कथन कर रहें हैं । सप्त गुणों से युक्त होकर नवधा भक्ति से सहित होकर योग्य भोजनादि द्रव्य को जात रूप धर ऐसे निर्ग्रन्थ अतिथि साधुओं के लिये संविभाग करके देना अतिथि संविभाग है । यह अतिथि संविभाग अवश्य करणीय है । खपर अनुग्रह के लिये अर्थात् निज-पर सुख के लिये अतिथि संविभाग को करना जरूरी है । यही इसका भावार्थ हैं । संयम के बिना दोष लगाते हुए जो भोजनों के लिये गमन करते हैं उन्हें अतिथि कहते हैं । अथवा

जिसकी प्रतिपदा द्वितीया आदि कोई निश्चित तिथि नहीं है उन्हें अतिथि कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार श्रावक तिथि के अनुसार व्रतादि करता है उसी प्रकार साधु के लिये ऐसी बाध्यता नहीं है। अतिथि के लिये समीचीन भाग अर्थात् स्व विशिष्ट भोजन को अतिथि के लिये प्रदान करना अतिथि संविभाग है। वह अतिथि संविभाग चार प्रकार का है। (1) आहार दान (2) उपकरण दान (3) औषध दान (4) आवास दान।

उसमें से जो मुनि संयम में तत्पर हैं उन्हें निर्दोष भिक्षा देना चाहिये। रलत्रय के वर्द्धक पिण्डि, कमङ्गल, पुस्तक आदि धर्म उपकरण का प्रदान साधुओं के लिये करना चाहिये। शारीरिक सामर्थ्य को बढ़ाने वाली तथा रोग को दूर करने वाली औषधि का दान देना चाहिये। मुनियों के लिये रहने के लिये आवास का दान देना वसतिका दान है। ऐसे अतिथि संविभाग करना चाहिये। पुनः और भी अरिहन्त भगवान की पूजा, स्तवन, वन्दना आदि अतिथि संविभाग व्रतधारियों के लिये करने योग्य है।

### अहिंसा के लिये दान देने की विधि

संग्रहमुच्चस्थानं, पादोदकमच्चर्वनं प्रणामं च ।

वाक्काय-मनः शुद्धि रेषण -शुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ 168 ॥

मुनियों के लिये आहारदान देने के लिये नव प्रकार की विधि या भक्ति चाहिए।

यथा (1) सम्यक् प्रकार से भक्ति पूर्वक हे स्वामीन् ! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु ! अत्र, अत्र, अत्र, तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ आहार जल शुद्ध है। बोलकर के प्रतिग्रहण/संग्रह या पड़गाहन करना चाहिये। (2) उच्च आसन पर मुनियों को बैठाना चाहिये। (3) मुनियों के प्रासुक जल से पाद प्रक्षालन करना चाहिए तथा गन्धोदक लेना चाहिए। (4) अष्टद्रव्य से पूजन करना चाहिए। (5) प्रणाम अथवा नमोऽस्तु कहकर के पंचांग आसन में नमोऽस्तु करना चाहिए। (6) वाक् अथवा वचन शुद्धि। (7) काय अथवा शरीर शुद्धि। (8) मन शुद्धि अथवा भाव की पवित्रता। (9) एषणा शुद्धि अर्थात् नव कोटि से आहार जल की शुद्धि। इस प्रकार नवपुण्य अर्थात् नवधा भक्ति से चौदह प्रकार के मलदोषों से रहित होकर बत्तीस प्रकार के अन्तराय को टालकर मुनि की अवस्था/प्रकृति को जानकर आहार देना चाहिए।

### अहिंसा के लिये दाता के सात गुण

ऐहिक -फलाऽनुपेक्षः, क्षांतिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम् ।

अविषादित्वं मुदित्वं, निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥ 169 ॥

निश्चय से दाता के सात गुण होते हैं। यथा— (1) धनादि इहलोक फल की वांछा नहीं करना, (2) क्षमा से युक्त होना (3) कपट रहित परिणाम होना (4) ईर्ष्या से रहित होना (5) खेद रहित होना (6) हर्ष से युक्त होना, (7) अहंकार से रहित रूप को मलता होना, दाता के सप्तगुण हैं। अर्थात् दाता को इन सप्त गुणों से युक्त होकर आहार देना चाहिये।

### अहिंसात्मक द्रव्य देय

राग-द्वेषाऽसंयम, मद-दुःख भयादिकं न यत्कुरुते ।

द्रव्यं तदेव देयं, सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥ 170 ॥

जिस आहारादि से राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि शब्द से घृणा, ग्लानि, दीनता, मलिनता, कलह, वैरत्य आदि होते हैं ऐसे आहारादि नहीं देना चाहिए। जिस आहारादि से राग-द्वेष आदि उपर्युक्त दुर्गुण उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसे आहारादि देना चाहिए। जिससे सुतप अर्थात् बारह भेद रूप तप और पाँच भेद रूप स्वाध्याय की वृद्धि होती है ऐसे आहारादि देना चाहिए।

साधु जो आहार करते हैं उसका मुख्य उद्देश्य आत्म कल्याण आत्म साधना है। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य तथा साधना के लिए साधु आहार करते हैं। आहार का प्रभाव शरीर एवं मन के ऊपर भी पड़ता है। इसलिए साधु को साधना के लिए योग्य आहार करना चाहिए तथा अयोग्य आहार नहीं करना चाहिए। श्रावक को साधु की प्रकृति, आयु तथा वातावरण को देखकर के आहार देना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार प्रकृति तीन प्रकार की होती है। यथा :— (1) वात (2) पित्त (3) कफ। वात प्रकृति वाले को वायु कारक भोजन नहीं करना चाहिए। उन्हें मटर, बेसन, उड्ढ, ग्वार की फली, आदि भोजन नहीं करना चाहिए। पित्त प्रकृति वालों को मिर्च, उष्ण प्रकृति के भोजन, तेल, खट्टी चीज, तेल से तली हुई चीज का भोजन नहीं करना चाहिए। कफ प्रकृति वालों को ठण्डी चीज, शीत प्रकृति की चीज का भोजन नहीं करना चाहिए।

### हितभुक् मितभुक् ऋतुभुक् (शाकभुक्)

शतपद गामी वामशायी च ।

अविरोध विटपुरुष (मल-मूत्र) सदाचारीपुरुषः  
सोउरुक् सोउरुक् ॥

हितभोजी, अल्पभोजी, ऋतु अनुकूल भोजी (शाकाहारी) आहार के बाद सौ पग चलने वाला, वाम पाश्व में सोने वाला, मलमूत्र को नहीं रोकने वाला सदाचारी निरोगी होता है ।

सम्पूर्ण आयुर्विद्या (चिकित्सा विज्ञान) इस सिद्धान्त में निहित है -

“हियाहार मियाहार अप्पाहार य जे नरा ।  
न ते विज्जातिगच्छति, अप्पाणते तिगच्छगा ॥”

जो मनुष्य हित आहार, मित आहार और अल्पाहार करता है वह वैदिक चिकित्सा करने के लए नहीं जाता है । स्वयं की चिकित्सा स्वयं कर लेता है ।

“तहा भोत्तव्व जहा से जायमाताय भवति ।  
न य भवति विवभमो न मंसणा च धम्मस्त ॥”

उतना भोजन करो जिससे जीवन की संयम यात्रा सुचारू रूप से गतिशील होती है और जिससे विप्रम उत्पन्न नहीं होता है और धर्म की भर्त्सना नहीं होती है ।

### भोजनक्रम

स्त्निग्रं यन्मधुरं च, पूर्वमशनम भुंजति भुक्तिक्रमे ।

मध्ये यल्लवणाम्लभक्षणयुतं पश्चात् शेषान्नसान् ॥

ज्ञात्वा सात्म्यबलं सुखासनतले स्वच्छे स्थिरस्तत्परः ।

क्षिप्रं कोषणमथ द्रवोत्तरतरं सर्वतुसाधारणम् ॥

भोजन करने के लिए जिस पर सुख पूर्वक बैठ सके ऐसे साफ आसन पर स्थिर चित्त होकर अथवा स्थिरता पूर्वक बैठे । पश्चात् अपनी प्रकृति व बल को विचार कर उसके अनुकूल, थोड़ा गरम (अधिक गरम भी न हो अधिक ठण्डा भी न हो) सर्वत्रतु के अनुकूल ऐसे आहार को शीघ्र ही (अधिक विलम्ब भी न हो अत्यधिक जल्दी भी न हो) उस पर मन लगाकर खावे । भोजन करते समय सबसे पहले चिकना व मंधुर अर्थात् हलुआ, खीर, बर्फी, लड्डू आदि पदार्थों को खाना चाहिए तथा भोजन के बीच में नमकीन, खट्टा आदि अर्थात् चटपटा मसालेदार चीजों

को व भोजनांत में दूध आदि द्रव प्राप्य आहार खाना चाहिए । मन को प्रसन्न रखकर के भोजन करना चाहिए । यदि मन अवसाद युक्त है, क्रोधादि आवेश से सहित है, चिन्ता से ग्रस्त है तो किया हुआ भोजन विष के समान हो जायेगा । इससे अपच, वायुरोग, अल्सर, मन्दाग्नि आदि अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग हो जायेंगे । पहले थोड़ा-सा पानी पीकर पहले रिनग्रं (चिकित्साई युक्त) गरिष्ठ, धी, दूध आदि से निर्मित वस्तु जैसे - हलुआ, पूड़ी, लड्डू, गुलाबजामुन आदि खाद्यों को खाना चाहिए । मध्य-मध्य में थोड़ा-थोड़ा पानी धीरे-धीरे पीना चाहिए, पानी को कभी भी गट-गट करके नहीं पीना चाहिए । धीरे-धीरे पीने से कम पानी पीने से भी घ्यास बुझ जाती है । मुँह में अनेक पाचक तत्व पानी में मिलकर पेट में जाते हैं जिससे भोजन ठीक से पच जाता है । पहले या अन्त में अधिक पानी नहीं पीना चाहिए । क्योंकि इससे अपच, आफरा, पेट दर्द आदि रोग हो जाते हैं । दाँतों की संग्राव्या के अनुसार भोजन को बत्तीस बार चबाना चाहिए । भोजन को इतनी बार चबाना चाहिए कि वह पानी के समान पीने योग्य हो जावे । मध्य-मध्य में नमकीन युक्त भोजन करना चाहिए । परन्तु कभी भी भोजन में अधिक मिर्ची, गरम मसाला, नमक, इमली, खट्टी चीज, बासी चीज, दुर्गंध युक्त भोजन, ग्लानि युक्त भोजन, जूठन आदि नहीं खाना चाहिए । ठूस-ठूस करके भी भोजन नहीं करना चाहिए । वायु संचालन के लिए पेट का कुछ भाग खाली रखना चाहिए । खरबूजा खाकर पानी नहीं पीना चाहिए । इससे हैजा रोग हो जाता है । धी या धी से निर्मित वस्तु खाने के बाद ठण्डा पानी नहीं पीना चाहिए । इससे खाँसी, विभिन्न प्रकार के गले के रोग हो जाते हैं । इसी प्रकार फल या फलरस के बाद पानी नहीं पीना चाहिए इससे भी खाँसी, जुकाम, हो जाता है । इसी प्रकार और भी जो विरोधाभास भोजन है वह भी नहीं करना चाहिए । भोजन के अन्त में हाथ, मुँह, पैर ठीक से धोना चाहिए एवं कुल्ला भी ठीक से करना चाहिए । मुँह में भोजन के कण नहीं रहना चाहिए ।

जीव में जो भाव होते हैं वे भाव बाद्य क्रिया में विभिन्न रूप में प्रकट होते हैं । एक प्रसिद्ध युक्ति है कि “जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे” अर्थात् “जिस प्रकार दृष्टि होती है उसी प्रकार सृष्टि होती है”, “जैसी मति होती है वैसी गति होती है ।” इसी प्रकार जैसे विचार होते हैं वैसा ही आहार होता है । अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही अन्त ग्रहण होता है । इसलिए साधारण लोग कहते हैं कि यह भोजन मुझे अच्छा नहीं लगता है । इससे सिद्ध होता है कि जिस तरह हमारा मन होता है उसी तरह का हम अन्त (भोजन) ग्रहण करते हैं । प्रसिद्ध लोकोक्ति है ‘‘जैसा खावें अन्न वैसा

होवे मन।''(As you eat so you become) अर्थात् जैसा आहार वैसा विचार, परन्तु सूक्ष्म अतीनिय मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखने पर उपर्युक्त नीति से विपरीत “जैसा विचार होता है वैसा आहार होता है।” इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से “जैसा होवे मन वैसा खावे अन्न।” अर्थात्(As you think so you eat) मैंने जो यह अपना शोध पूर्ण विषय प्रस्तुत किया है। इसके समर्थन में गीता में प्रतिपादित विषय को यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।**

**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ 2 ॥**

श्री भगवान् बोले—मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा अर्थात् प्रकृति होती है। यथा—सात्त्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन।

**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।**

**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ 3 ॥**

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है। मनुष्य में कुछ न कुछ श्रद्धा तो होती है। जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा वह होता है।

**यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसा ।**

**प्रेतान्मूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ 4 ॥**

सात्त्विक लोग देवताओं को भजते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसों को भजते हैं, और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादि को भजते हैं।

**आहारस्त्वपि सर्वस्व त्रिविधो भवति प्रियः ।**

**यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ 7 ॥**

आहार भी तीन प्रकार से प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकार से प्रिय होता है) उसका यह भेद तू सुन।

**आयुः सत्त्वबलारोग्यं - सुखप्रीतिविवर्धनाः ।**

**रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ 8 ॥**

आयुष्यः सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और सुचि बढ़ाने वाले, रसदार चिकने पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

**कट्टब्म्ललवणात्युष्णतीक्षणरूक्षविदाहिनः ।**

**आहार राजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः ॥ 9 ॥**

तीखे, खड़े, खारे, बहुत गरम, चटपटे, रुखे, दाहकारक आहार राजस

लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं।

**यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।**

**उच्छ्वष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ 10 ॥**

प्रहर भर से पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जँठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है।

न्याय से उपार्जित धन से प्राप्त भोजन ही सात्त्विक भोजन हो सकता है जो कि शुन्द्र, प्रासुक, शाकाहार या दुग्धाहार हो। जैसे— दूध, धी, फल, भात, रोटी, दाल, सूखा मेवा, फलरस आदि। यह भोजन भी तब तक सात्त्विक रहेगा जब तक यह भोजन ताजा, सुगन्ध युक्त, चक्षु के लिये प्रिय वर्ण, सुखादयुक्त, स्निग्ध, मन को प्रिय लगने वाला होगा। यदि यही भोजन जब बासी हो जाता है, दुर्गन्ध आने लगती है, विवर्ण हो जाता है, तब भोजन तामस या अभक्ष्य हो जाता है। जिह्वा लोलुप्ता से परिपूर्ण चरपरा, चटपटा, मसालेदार, गरम—मसाले से युक्त भोजन राजसी है। ऐसे भोजन से क्रोध बढ़ता है, शरीर की उष्णता बढ़ती है, तन—मन उत्तेजना युक्त हो जाते हैं, जिह्वा की लालसा बढ़ती है, काम उत्तेजना बढ़ती है एवं शारीरिक व मानसिक रोग भी हो जाते हैं। बासी भोजन अमर्यादित खड़ा—मठ्ठा एवं ढही, बासी रोटी, अमर्यादित आचार, पापड़, मुरब्बा, मिठाइयाँ, माँस—मछली, अण्डा, शराब, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, पान—पराग, चुटकी, रजनीगन्धा, पान—मसाला, टेस्टी, तुलसी, जंदा आदि तामसिक भोजन हैं। इससे मन—तम (अज्ञानरूपी अन्धकार) से युक्त हो जाता है। इससे विवेक नष्ट हो जाता है। मन भ्रमित हो जाता है, अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग भी हो जाते हैं।

### जैसा करे विचार वैसा करे आहार

जो न्याय, नीति, सदाचार, शिष्टाचार, शिष्टता, भद्रता, नम्रता, सरलता, अहिंसा, दया, करुणा आदि गुण से युक्त सात्त्विक व्यक्ति को सात्त्विक भोजन भाता है अर्थात् उसकी भोजन की स्वाभाविक प्रवृत्ति सात्त्विक आहार (भोजनवस्तु) में होती है। इसी प्रकार विलास प्रिय, भोगी, क्रोधी व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति राजसिक भोजन में होती है। मन्दबुद्धि वाला क्रूर, हिंसक, आततायी, भ्रष्टाचारी, गुण्डा, दुष्ट व्यक्ति की प्रवृत्ति तामसिक भोजन में होती है। जिस प्रकार राजहंस को मोती, दूध आदि प्रिय लगता है, मधुमक्खी को मधु प्रिय लगता है, मांसाहारी

पशु—पक्षी को जिस प्रकार माँस प्रिय लगता है, ऊँट को बबूल प्रिय लगता है, उसी प्रकार सात्त्विक आदि व्यक्तियों को सात्त्विक आदि भोजन प्रिय लगता है। सात्त्विक आदि जीवों की गतिविधियाँ, आचार-विचार की पन्द्रहियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं।  
कर्मयोगी नारायण श्री कृष्ण ने संक्षिप्त रूप से दुःख से निवृत्त होने का उपाय बताते हुए कहा है —

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।  
युक्त स्वभाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ 17 ॥ गीता

*He who is moderate in food, moderate in recreation moderate in necessary action, moderate in steep, moderate in walking, can be able to practise Dhyana(Yoga) the destroyer of grief.*

जिसका आहार, विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा तुला है और सोना जागना परिमित है, उसको यह योग दुःख घातक अर्थात् सुखावह होता है।

(गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, लेखक—बाल गंगाधर तिलक)

जैसा होवे आहार वैसा होवे विचार एवं आचार। जीव के शरीर, उसकी द्रव्यात्मक इन्द्रियाँ, उसके द्रव्य मन पूर्णतः भौतिक (पौद्गलिक) होने के कारण एवं उसकी भावात्मक इन्द्रियाँ भाव मन की सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से क्षयोपशमिक भाव होने से पौद्गलिक (भौतिक) हैं।

भोजन, पानी आदि भौतिक वस्तु होने के कारण इसका भी सुप्रभाव एवं कुप्रभाव जीव के ऊपर पड़ना भी स्वाभाविक है। जिस प्रकार पानी की कमी होने से प्यास लगती है एवं पानी पीने से शरीर, इन्द्रियाँ व मन तरोताजा हो जाते हैं। इसी प्रकार शराब पीने से शरीर दुर्बल एवं रोगाक्रान्त हो जाता है, मन क्षुद्र हो जाता है तथा विवेक नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार शुद्ध शाकाहार, मांसाहार, शुद्ध पानी एवं नशीले पानी के बारे में भी जान लेना चाहिए। इसलिए कहा गया है —

*As you eat so you think and as you think so you become.*

*Our body is what we eat.*

अर्थात् जैसे आहार करते हैं वैसे विचार करते हैं एवं जैसे हम विचार करते हैं वैसे हम परिणमन करते हैं। हमारा शरीर वैसा है जैसा हम आहार करते हैं।

*Animal food for those,  
who will fight and die,*

*and vegetable food for those,  
who will live and think.*

मांसाहार उनके लिये हैं जो लड़ेंगे एवं मरेंगे।

शाकाहार उनके लिये हैं, जो जीवित रहेंगे एवं चिन्तन करेंगे।

जो अभक्ष्य भक्षण करते हैं, भ्रष्ट आचरण करते हैं वे शरीर से मानव होकर भी भाव से, क्रिया से दानव हैं। नीतिकारों ने कहा भी है।

मांसाहारी मानवा परतछ राक्षस अंग ।

तिन की संगति मत करो, परत भजन में भंग ॥

जो रक्त जगे कापड़े, जामा होवे पलीत ।

सो रक्त पीवे मानुसा, तिन क्यों निर्मल चित्त ॥

वर्तमान मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध किया है कि माँस, मद्य, धूम्रपान, तम्बाकू सेवन, अमर्यादित भोजन, अशुद्ध भोजन एवं अभक्ष्य भक्षण से अनेक शारीरिक, मानसिक रोग हो जाते हैं। इसका सविस्तृत वर्णन मैंने “धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान”, “आदर्श विचार विहार आहार” एवं “व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण” में किया है। विशेष जिज्ञासु के लिए वहाँ अवलोकनीय हैं।

### पात्र का स्वरूप : अहिंसक

पात्रं त्रिभेदमुक्तं, संयोगो मोक्षकारण-गुणानाम् ।

अविरत-सम्यगदृष्टिः विरताऽविरतः सकल-विरतश्च ॥ 171 ॥

(1) उत्कृष्ट (2) मध्यम (3) जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के हैं। अविरत सम्यगदृष्टि संयम में रहित होने के कारण तथा सम्यगदर्शन से सहित होने के कारण चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य पात्र हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक विरताऽविरत होने से मध्यम पात्र हैं। समस्त पापों से विरत प्रथम गुणस्थानवर्ती मुनिराज उत्कृष्ट पात्र हैं। पात्र वे हैं जो मोक्ष के कारणभूत सम्यगदर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त होते हैं।

### दान में अहिंसा धर्म पलता है

हिंसायाः पर्यायो, लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।

तस्मादतिथि वितरणं हिंसा व्युपरमणमेवेष्टम् ॥ 172 ॥

लोभ भी हिंसा का नामान्तर है। अर्थात् लोभ स्वयं भाव हिंसा है। इसलिये

जहाँ लोभ है वहाँ हिंसा अवश्य ही है । जिस दान से लोभ का निराकरण होता है उसे दान कहते हैं । जिसके कारण अतिथि के लिये दिया गया दान हिंसा को दूर करता है, लोभ को दूर करता है, वही दान इष्ट है, मान्य ।

### जो दान नहीं देता वह हिंसक

गृहमागताय गुणिने, मधुकर वृत्त्या परानपीडयते ।

वितरति यो नाऽतिथये, स कथं नहि लोभवान् भवति ॥ 173 ॥

जो पुरुष ऐसे अतिथि मुनियों के लिये आहार नहीं देता है वह किस प्रकार लोभवान नहीं होगा अर्थात् वह निश्चय से लोभवान होगा ही । जो मधुकर वृत्ति से गृहस्थों के घर में आते हैं तथा जो मूलगुण तथा उत्तरगुण से सहित होते हैं भ्रमर वृत्ति से दूसरों को बिना क्लेश दिये हुए आहार ग्रहण करते हैं । ऐसे मुनियों के लिये जो उपासक – श्रावक – गृहस्थ आहार नहीं देते हैं वे कैसे लोभवान और हिंसक नहीं होंगे । अर्थात् वे अवश्य लोभवान् और हिंसक होंगे ही ।

आचार्य श्री ने इस श्लोक में एक अत्यन्त रहस्यपूर्ण विषय का उद्घाटन किया है । आचार्य श्री ने यह सिन्दू किया कि यदि कोई अस्त्र – शस्त्रों से दूसरों की हत्या करता है तो केवल वह ही हिंसक नहीं है परन्तु जो योग्य पात्र को दान नहीं देता वह भी हिंसक है; क्योंकि भाव हिंसा रूपी लोभ प्रवृत्ति उसके मन में व्याप्त है । इस श्लोक से यह भी सिन्दू होता है कि सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उसके धारकों के प्रति अनुराग, भक्ति, समर्पित भाव होता है । वह उनका आदर करता है, सत्कार करता है, सेवा करता है । इन गुणों से युक्त जीव ही सच्चा धार्मिक है । मेरा प्रायोगिक अनुभव है कि अनेक व्यक्ति भोग विलासिता के लिये तो अनाप-शनाप खर्च करेंगे धार्मिक बाव्य आडंबरों के लिये, प्रदर्शन के लिये धन लुटायेंगे नाम के लिये पंचकल्याणक आदि मेला – ठेला, भीड़ – भाड़ में लाखों रूपयों की बोली लेंगे, अहिंसा का भाषण झाड़ेंगे परन्तु साधुओं को पानी तक नहीं पिलायेंगे, आहार नहीं देंगे । ऐसे व्यक्ति यथार्थ से धार्मिक नहीं हैं, अहिंसक नहीं हैं परन्तु धर्मान्ध, लोभी तथा हिंसक हैं । जो जीवन्त धर्म – स्वरूप साधु – सन्तों की आहार दानादि देकर वैयावृत्ति नहीं करते हैं वे सब जड़वादी, जड़पूजक, बाव्य आडम्बरी हैं । इसका विशेष वर्णन मैंने अपनी कृति “आहार दान से अभ्युदय”, “पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी” आदि में किया है ।

### अध्याय 3

## साधुओं के द्वारा साधु की सेवा

शास्त्रों में कहा गया है कि समाधिरथ, संस्तरारुद्ध क्षपक की सेवा के लिए निर्ग्रन्थ मुनि 48 (अड़तालीस) निर्यापक होते हैं नहीं तो कम से कम (2) निर्यापक तो होने ही चाहिए । ये निर्यापक समाधिरथ मुनि की आहार संस्तरादि की व्यवस्था करते हैं । भगवती आराधना जैसे प्राचीन ग्रंथ में मुनि की समाधि सम्बन्धी आगम में इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार से पाया जाता है । यथा –

निर्यापक प्रिय धर्म, संवेगस्त्र, पापभीरु, धीर, छंदणु (क्षपक के कहे बिना अंगचेष्टा से अभिप्राय जानना) प्रतीतवान उचित प्रत्याख्यान (त्याग) के क्रम का ज्ञाता होता है । (ग. 646)

कल्पाकल्प (भोजनादि की योग्यता) से कुशल चित्त, समाधान में उद्यमी, रहस्य – श्रुत का ज्ञाता, जिनेन्द्रागम गुरु से अच्छी तरह अनुभव किया हो इस प्रकार 48 मुनि निर्यापक गुण के धारक क्षपक के उपकार में सावधान होते हैं । (ग. 647)

आमर्शन (हाथ, पैर, कमर दबाना) परिशर्मन (संपूर्ण अंग दबाना) चक्रमण (क्षपक को चलने – फिरने में सहायता देना शयन, बैठाना, खड़ा करना, करवट बदलवाना हाथ पाँव पसारना, संकुचित करना इत्यादि उपकार परिचायक मुनि करते हैं । (ग. 648)

क्षपक की शरीर क्रिया में जिस प्रकार संयम विनाश को प्राप्त नहीं हो उसी प्रकार क्रम से संयम में नित्य उद्यम युक्त और क्षपक को सावधान करने में इच्छुक इस प्रकार चार मुनिराज सेवा करते हुए टहल करने खड़े होते हैं । (ग. 649)

चार मुनि ग्लानि का त्यागकर उद्गमादि दोष रहित आहार के पदार्थ क्षपक के लिये लाते हैं, कितने दिन तक हम को लाना पड़ेगा ऐसा विचार वे मन में नहीं करते हैं । क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं । क्षपक भी जिनसे भूख और प्यास शान्त होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है । लौल्य से आहार की इच्छा वह नहीं करता है । क्षपक के वात, पित्त और श्लेष्म को न बढ़ाने वाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं । परिचारक मुनियों के हृदय में मायाभाव नहीं रहता है अतः वे अयोग्य

आहार को योग्य बताते नहीं। मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लाने के कार्य में आचार्य के द्वारा भेजे जाते हैं। जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्य में नियुक्त करने से क्षपक को कलेश होगा। (गा. 662)

चार मुनि आचार्य के द्वारा नियुक्त होकर क्षपक के लिए योग्य पीने के पदार्थ लाते हैं। (बाकी संपूर्ण अभिग्राय ऊपर की गाथा के समान ही समझना चाहिए।)

उपर्युक्त मुनियों के द्वारा लाये हुए आहार के और पान के पदार्थों का चार मुनि प्रमाद छोड़कर रक्षण करते हैं। उन पदार्थों में त्रस जीवों का प्रवेश न हो और कोई गिरा न सकें ऐसी संभाल वे करते हैं क्योंकि क्षपक का जिस प्रकार से चित्त रलत्रय में एकाग्र रहेगा वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं। (गा. 664)

चार परिचारक मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे का प्रयत्न से रक्षण करते हैं अर्थात् असंयत और शिक्षकों को वे अंदर आने को मना करते हैं और चार मुनि समोशरण के द्वार का प्रयत्न से रक्षण करते हैं। (धर्मोपदेश देने के मंडप के द्वार पर चार मुनि रक्षण के लिए बैठते हैं। (गा. 669)

चार मुनि क्षपक का मलमूत्र निकालने का कार्य करते हैं तथा सूर्य के उदय काल में और अस्तकाल के समय में वसतिका उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं। (गा. 666)

निद्रा को जीतने की इच्छा रखने वाले चार मुनि क्षपक के पास जागरण करते रहते हैं। और जहाँ क्षपक और संघ ठहरा है उस देश की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करने वाले चार मुनि आचार्यों के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

इस प्रकार ये माहात्म्यवान् अङ्गतालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्न से क्षपक को समाधि में एकाग्र करते हैं और संसार समुद्र से प्रयाण करने वाले उस क्षपक को समाधि के कार्य में अर्थात् रलत्रय में प्रयुक्त करते हैं। (गा. 670)

जिनका गुण वर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं। ऐसा न समझना चाहिये परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में विचित्र काल का परावर्तन हुआ करता है। इसलिए कालानुसार प्राणियों के गुणों में भी जघन्य, मध्यमता और उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभन गुणों का संभव रहता है, उस समय वैसे गुणधारक मुनि निर्यापक परिचारक समझकर ग्रहण करना चाहिये।

भरत क्षेत्र में और ऐरावत क्षेत्र में समस्त देशों में जो जैसा काल प्रवर्तता है उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिए अर्थात् मध्यम काल के प्रारंभ में 44 निर्यापक होते हैं। (गा. 671)

इस प्रकार देश कालानुसार गुणों को घल से देखकर इस संक्लेश परिणाम युक्त काल में चार-चार निर्यापक कम-कम करना चाहिये। वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे, अर्थात् क्षपक के समाधि मरण साधने के लिये केवल देश, काल, गुण की अपेक्षा से यदि चार ही निर्यापक हों तो भी समाधि मरण रूप कार्य की समाप्ति होती है। अतिशय संक्लिष्ट काल में दो निर्यापक भी क्षपक के इस कार्य को साध सकते हैं। परन्तु जिनागम में एक निर्यापक का किसी भी काल में उल्लेख नहीं किया है।

मूलाचार में भी गुरु के लिये शिष्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं? क्या विनय होता है? उसका वर्णन नीचे कर रहे हैं -

देव और गुरु के सामने (विनय से एक तरफ खड़े होना) गुरु के साथ चलते समय उनके बाँये चलना, या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ, पाटा आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिये आसन देकर उन्हें विराजने के लिये निवेदन करना। उन्हें पुस्तक, कमण्डल, पिंचीका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुकस्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिये निवेदन करना। अथवा नीचे स्थान का अर्थ यह है कि गुरु सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ पैर संकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में विनप्रता रखना। (गा. 6374)

गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तेल मालिश करना, उष्ण काल में शीत क्रिया, शीत काल में उष्ण क्रिया करना और वर्षा काल में उस ऋतु के योग्य क्रिया करना। अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनके प्रकृति के अनुकूल करना और उनके आदेश का पालन करना, उनके लिये संस्तर अर्थात् चटाई, घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक, कमण्डल आदि उपकरणों को ठीक तरह से पिंचीका से प्रतिलेखन करके उन्हें देना।

इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के

द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है, वह सब कायिक विनय है क्योंकि वह काय के आश्रित है ।

अभ्युत्थान गुरुओं को सामने आते हुए देखकर, उठकर खड़े हो जाना । सन्नति-शिर से प्रणाम करना । आसन दान-पीठ काष्ठासन, पाटा आदि देना । अनुप्रदान-पुस्तक, पिच्छी का आदि उपकरण देना, प्रतिरूप क्रिया कर्म यथा योग्य श्रुत भक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके बन्दना करना, अथवा गुरुओं के शरीर की प्रकृति के अनुरूप काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा सुश्रृष्टा आदि क्रियाएँ करना । जैसे कि शीत काल में उष्णकारी और उष्णकाल में शीत कारी आदि परिचर्या करना, अस्वरथ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि । आसन-त्याग-गुरु के समान उच्च स्थान पर नहीं बैठना । अनुब्रजन उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना । इस प्रकार से (1) अभ्युत्थान (2) सन्नति, (3) आसन दान (4) अनुप्रदान (5) प्रतिरूप क्रिया कर्म (6) आसन त्याग और (7) अनुब्रजन ये सात इस प्रकार कायिक विनय के होते हैं ।

गुणाधिये उवज्ञाए तवरिस सिरसे य दुव्वले ।

साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥

(गाथा - 390 मूलाचार)

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर ये पाँच हैं । नव दीक्षित को बाल कहते हैं । वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध समझना । सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं । इन आचार्य आदि पाँच प्रकार के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिये । अर्थात् अपनी सर्व सामर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए ।

सेज्जोग्गासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणा हि उवगगहिदे ।

आहारोसहवायण विकिंचणं वंदणादीहि ॥

(गा. 391 मूलाचार)

श्यावकाश मुनियों को वसतिका का दान देना, निषधा-मुनियों को आसन आदि देना, उपधि-कमण्डल आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन-पिच्छिका आदि देना, इन कार्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए । अथवा इनके द्वारा उपकार

करके उन्हें स्वीकार करना आहार चर्या द्वारा, सोठ, पीपल आदि औषधि द्वारा, शास्त्र-व्याख्यान द्वारा कदाचित् मस-मूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने के द्वारा और बन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करनी चाहिए । तात्पर्य यह है कि वसतिका दान, आसनदान, उपकरणदान, प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए । इन उपकारों से वे अपने किये जाते हैं । उपर्युक्त विनय, वैयावृत्ति करने का फल निमोक्त है -

विणएण विष्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्याणं ॥ 385 ॥

विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है, विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है ।

विणओ मोक्खद्वारं विणयादो संज्ञमो तवो णाणं ।

विणएणारहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य ॥ 386 ॥

विनय मोक्ष का द्वार है । विनय से संयम, तप और ज्ञान होता है । विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसंघ आराधित होता है ।

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्त सोधिए णिज्जजा ।

अज्जवमद्वलाहव भत्तीयलहादकरणं च ॥ 387 ॥

विनय से आचार, जीद कल्प आदि गुणों का उद्योतन होता है तथा आत्म शुद्धि, निर्दृन्दता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आलादगुण प्रकट होते हैं ।

कित्ती मित्ती माणरस भंजण गुरुज्ञे य बहुमाणं ।

तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥ 388 ॥

कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुओं में बहुमान, तीर्थकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं ।

आइरियादिसु पंचसु सबालवुडाउलेसु गच्छेसु ।

वेज्जावच्चं वुत्तं काद्वं सव्वसत्तीए ॥ 389 ॥

आचार्यदि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्ति को कहा है । सो सर्वशक्ति से अर्थात् आहार, औषधि उपकरण पुस्तकादि से करना चाहिए ।

जो साधुओं की सेवा करते हैं वे साक्षात् धर्म की सेवा करते हैं । क्योंकि साधु ही जीवन्त, चलते, फिरते धर्म है, तीर्थ, मूर्ति हैं, मन्दिर हैं । पंचपरमेष्ठियों में अरिहंत और सिंदृ की तो कोई सेवा, वैयावृत्ति (आहार-औषधि, ज्ञान, वसतिका

आदि दान तथा शरीर की मालिश आदि) की आवश्यकता नहीं है। केवल उनके समान आदर्श बनने के लिए उनके गुणस्मरण, गुणानुराग, गुणानुचरण की आवश्यकता है। इसी प्रकार नवदेवता (पंचपरमेश्वी, चैत्य, चैत्यालय, जिनधर्म, जिनागम) में भी वर्तमान में साक्षात् जीवन्त देवता तो तीन देवता (आचार्य, उपाध्याय, साधु) हैं जिनके लिये भोजन, औषधि, सुश्रुषा की आवश्यकता है। ये ही साधक साधु ही आगे जाकर साध्य, अरिहंत, सिद्ध बनेंगे और अरिहंत की दिव्य देशना ही जिनागम है। उनकी मूर्ति (Idol) ही चैत्य है। चैत्य का आलय ही चैत्यालय है तथा उनका स्वरूप ही जिनधर्म है। इसलिए तो कुन्दकुन्द देव ने अष्टपाहुड़ में साधु-श्रमण को ही निश्चय से नवदेवता कहा है और मूर्ति, मन्दिरादि को व्यवहार से देवता कहा है। अतएव सिद्ध होता है कि मूर्ति, मन्दिर, तीर्थक्षेत्रादि, प्रतिकृति, प्रतिमा, मूर्ति (Idol) हैं तो साधु स्वयं मूर्तिमान, प्रतिमान, आदर्श (Ideal) हैं। जिसने साधु की सेवा की, उसने नव देवता की भी सेवा की। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जो स्वयं साधुओं की सेवा तक नहीं करता है वह भी जब एक साधु धार्मिक भाव से आगमोक्त प्रणाली से भी दूसरे साधु की सेवा करता है तो उसको खराब मानता है, निन्दा करता है, दूसरों को भिड़ाकर, भटकाकर साधुओं से घृणा करवाता है। इस प्रकरण का विशेष वर्णन मैंने इसी पुस्तक के गुरुपालित (साधुसेवा) प्रकरण में तथा “पूजा से मोक्ष, पुण्य तथा पाप भी” में किया है। विशेष जिज्ञासु वहाँ से अध्ययन करें।

## आहारदानादि सेवा से नन्दिषेण मुनि वसुदेव हुए

तदनन्तर भगवान् सुप्रतिष्ठ केवली, ध्यान में तत्पर एवं कान खड़े कर बैठे हुए मनुष्य और देवों की उस सभा में वसुदेव के भवान्तर कहने लगे जिस प्रकार समुद्र की लहरों में तैरती हुई कील जुए के छिद्र को बड़ी कठिनाई से प्राप्त कर सकती है उसी प्रकार संसार-सागर की दुःख रूपी लहरों में झूबता और उबरता हुआ यह प्राणी मनुष्य भव को बड़ी कठिनाई से प्राप्त कर पाता है। इसी पद्धति से वसुदेव का जीव मागथ देश के शालिग्राम नामक नगर में रहने वाले अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण और ब्राह्मणी के यहाँ ऐसा पुत्र हुआ जिसे थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं था। जब वह गर्भ में था तब पिता मर गया। और उत्पन्न होते ही माता मर गयी इसलिए मौसी ने इसका पालन-पोषण किया। परन्तु वह लगभग आठ वर्ष का ही हो पाया था

कि उसकी मौसी भी शोक के कारण प्राण रहित हो गयी। अब वह राजगृह नगर में मामा के घर रहने लगा। वहाँ ‘यह हमारे पति का भानजा है’ यह सोचकर बुआ ने उसका पालन-पोषण किया। इसका शरीर मल से ग्रस्त था, शरीर से छाग के बच्चे के समान तीव्र गंध आती थी, केश रुखे तथा बिखरे हुए थे, वह मैले-कुचैले वस्त्र पहने रहता था और उसकी आँखे स्वभाव से ही पीलीं थीं। इतने पर भी वह अपने भामा दमरक की पुत्रियों के साथ विवाह करना चाहता था। परन्तु विवाह करना तो दूर रहा घृणा करने वाली उन पुत्रियों ने उसे घर से निकाल दिया जिससे वह बहुत दुःखी हुआ। अन्त में वह दुर्भाग्यरूपी अग्नि की शिखाओं से झुलसकर ढूँढ़ के समान मलिन हो गया और पतंग की तरह कूदकर मरने की इच्छा से वैभार गिरि पर गया परन्तु मुनियों ने उसे रोक लिया। तदनन्तर धर्म-अधर्म का फल सुनकर उसने अपने आपकी बहुत निन्दा की और शान्त हो संख्य नामक मुनिराज के चरण मूल में दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु के सम्यक् उपदेश से आशारूपी पाश को नष्ट कर वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का धारक हो गया और अन्य मनुष्यों के लिए दुश्चर तप तपने लगा। उसका नन्दिषेण नाम था, वह तप के प्रभाव से उत्पन्न ऋद्धियों से युक्त हो गया। ग्यारह अंग का धारी एवं समस्त परीषहों को सहने वाला उत्तम साधु हो गया। शास्त्रों में जो-जो उपवास दूसरों के लिये अत्यन्त कठिन थे वे सब उस धैर्यशाली साधु के लिये सरल हो गये। आचार्य, ग्लान, शैक्ष्य आदि के भेद से जिसके दश भेद बताये गये हैं उस वैयावृत्य तप को वह विशेष रूप से करता था।

महालब्धि मतस्तस्य वैयावृत्योपयोगि यत् ।

वस्तु तच्चन्तितं हस्ते भेषजाधाषु जायते ॥ 138 ॥ (हरि.पु. पृ. 272)

वह मुनि बड़ी-बड़ी ऋद्धियों से युक्त था इसलिए वैयावृत्य में उपयोग आनेवाली जिस औषधि आदि का वह विचार करता था वह शीघ्र ही उसके हाथ में आ जाती थी।

तपो वर्षसहस्राणि बहूनि तपतोऽस्य च ।

वैयावृत्यं तपः शक्रः शंशय सुरसंसदि ॥ 139 ॥

इस प्रकार मुनि नन्दिषेण को तप करते हुए जब कई हजार वर्ष बीत गए तब एक दिन इन्द्र ने देवों की सभा में उसके वैयावृत्य तप की प्रशंसा की।

काले संप्रति साधूनां वैयावृत्य करोति यः ।

नन्दिषेण परो जातो जम्बूद्वीपस्य भारते ॥ 140 ॥

इस समय जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो साधुओं की वैयावृत्य करता है वह नन्दिषेण मुनि सबसे उल्कृष्ट है ।

यद्येन चिन्तितं पथ्यमनुल्लाघसुदृष्टिना ।

तत्स्य क्षिप्रमक्षणं संपादयति क्षमो ॥ 141 ॥

क्योंकि रोग से पीड़ित मुनि जिस पथ्य की इच्छा करता है उसे क्षमा को धारण करने वाला नन्दिषेण मुनि शीघ्र ही पूर्ण कर देता है ।

प्रासुकद्रव्ययोगेन वैयावृत्योद्यतस्य हि ।

संयतस्यापि नो बन्धो निजरैव तु जायते ॥ 142 ॥

गृहस्थों की तो बात ही क्या प्रासुक द्रव्य के द्वारा वैयावृत्य करने में तत्पर रहने वाले मुनि को भी उससे बन्ध नहीं होता है किन्तु निर्जरा ही होती है ।

धर्मसाधनमाद्यं हि शरीरमिह देहिनाम् ।

तस्य धारणमाद्येयं यथाशक्ति च शासने ॥ 143 ॥

इस संसार में शरीर ही प्राणियों का सबसे पहला धर्म का साधन है इसलिये यथाशक्ति उसकी रक्षा करनी चाहिए । यह आगम का विधान है ।

सम्यग्दृष्टिरशेषोऽपि मन्दश्लानादिशदरात् ।

पर्युपासमया नित्यमुपचर्यः सुदृष्टिना ॥ 144 ॥

मन्दशक्ति अथवा बीमार आदि जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्दृष्टि मनुष्य को उन सबको वैयावृत्य द्वारा निरन्तर सेवा करनी चाहिये ।

प्रतीकारसमर्थोऽपि यत्सुदृष्टिमुपेक्षते ।

व्याधिक्लिष्टमसौ नष्टः सम्यक्त्वस्थापबृंहकः ॥ 145 ॥

जो प्रतिकार करने में समर्थ होकर भी रोग से दुःखी सम्यग्दृष्टि की उपेक्षा करता है वह पापी है तथा सम्यग्दर्शन का घात करने वाला है ।

यन्नोपयुज्यते यस्य धनं वा वपुरेव वा ।

स्वशासनजने तेन तस्य किं बन्धहेतुना ॥ 146 ॥

जिसका धन अथवा शरीर सहधर्मी जनों के केवल उपयोग में नहीं आता उसका वह धन अथवा शरीर किस काम का ? वह तो केवल कर्मबन्ध का ही कारण है ।

तदेह हि धनं तस्य वपुर्वा सर्वथा मतम् ।

यद्यस्य शासनस्थानां यथास्वमुपयुज्यते ॥ 147 ॥

जिसका जो धन अथवा जो शरीर सहधर्मी जनों के उपयोग में आता है वथार्थ में वही धन अथवा वही शरीर उसका है ।

शक्तस्योपेक्षमाणस्य सद्दृष्टिजनमापदि ।

का वा कठिनचित्स्य जिनशासनभक्ता ॥ 148 ॥

जो समर्थ होकर भी आपत्ति के समय सम्यग्दृष्टि की उपेक्षा करता है उस कठोर हृदय वाले के जिनशासन की क्या भक्ति है ? कुछ भी नहीं है ।

सम्यक्त्वशुद्धिशुद्धे तु जैने भक्तिविलोपने ।

पुंसोमिथ्याविनीतस्य का वा दर्शनशुद्धिता ॥ 149 ॥

जो सम्यग्दर्शन की शुद्धता से शुद्ध सहधर्मी की भक्ति नहीं करता है वह झूठ-मूठ का विनयी बना फिरता है उसके सम्यग्दर्शन की शुद्धि क्या है ?

बोधिलाभनिमित्ताया दृष्टिशुद्धिर्विबाधने ।

पुनर्बोधिपरिप्राप्तिर्दुर्लभा भवसंकटे ॥ 150 ॥

यदि बोधि की प्राप्ति में निमित्तभूत दर्शनविशुद्धि में बाधा पहुँचायी जाती है तो फिर इस संसार के संकट में पुनः बोधि की प्राप्ति दुर्लभ ही समझनी चाहिये ।

बोधिलाभपरिप्राप्तावसत्यां मुक्तिसाधनम् ।

कुतो वृत्तमभावेऽस्य कुतो मुक्तिस्तदर्थिनः ॥ 151 ॥

यदि बोधि की प्राप्ति नहीं होती है तो मुक्ति का साधनभूत चरित्र कैसे हो सकता है ? और सब चारित्र नहीं है तब मुक्ति के अभिलाषी मनुष्य को मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

मुक्त्यभावे कुतः सौख्यमनन्तमनपायि च ।

सौख्याभावे कुतः स्वास्थ्यं स्वास्थ्याभावे कुतः कृती ॥ 152 ॥

मुक्ति के अभाव में अनन्त एवं अविनाशी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? सुख के अभाव में स्वास्थ्य कैसे मिल सकता है ? और स्वास्थ्य के अभाव में यह जीव कृत्य-कृत्य कैसे हो सकता है ?

अतः सर्वात्मना भाव्यं यथास्वं स्वहितैषिणा ।

वैयावृत्योद्यतेनाऽत्र यतिना गृहिणा तथा ॥ 153 ॥

इसलिये आत्महित चाहने वाले मुनि हो चाहे गृहरथ, उसे सब प्रकार से अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करने में उद्यत रहना चाहिये ।

**शरीरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं परमं तपः ।**

**वैयावृत्यकृता सर्वं स्थापितं हि परमात्मनोः ॥154॥** (ह.पु. पृ. 273)

जो मनुष्य वैयावृत्य करता है वह अपने तथा दूसरे के शरीर, दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं उत्तम तप आदि सभी गुणों को स्थिर करता है ।

**शासनस्थितिविद् विद्वानुपकुर्वन् परं स्वयम् ।**

**निरपेक्षोपकारो वः परात्मलघुमोक्षभाग् ॥155॥**

जिन-शासन की रीति को जानने वाला जो विद्वान् पर का उपकार करता हुआ स्वयं प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित होता है वह शीघ्र ही स्व-पर आत्मा का मोक्षप्राप्त करता है ।

**वैयावृत्यप्रवृत्तो यः शासनार्थतिभावितः ।**

**न स शक्यः सुरै रोद्रधुं किं पुनः क्षुद्रजन्तुभिः ॥ 156 ॥**

जो जिनशासन के अर्थ को उक्ट भावना करता हुआ वैयावृत्य करने में प्रवृत्त रहता है उसे देव भी रोकने के लिए समर्थ नहीं हैं फिर क्षुद्र जीवों की तो बात ही क्या है ?

यह नन्दिषेण मुनि ऐसे ही उत्तम मुनि हैं इस प्रकार सौर्थर्मन्द्र द्वारा स्तुति किये जाने पर सब देवों ने उनकी प्रशंसा की और परोक्ष नमस्कार किया । उन्हीं देवों में एक देव, मुनि के धैर्य की परीक्षा के लिये मुनि का रूप रख नन्दिषेण मुनिराज के पास पहुँचा और इस प्रकार कहने लगा – ‘‘हे वैयावृत्य में महान् आनन्द धारण करने वाले नन्दिषेण मुनि ! मेरा शरीर व्याधि से पीड़ित हो रहा है इसलिये मुझे कुछ औषधि दीजिए।’’ उसके इस प्रकार कहने पर नन्दिषेण मुनि ने अपनी अखण्ड अनुकम्पा से कहा कि – ‘‘हे साधो ! मैं औषधि देता हूँ परन्तु यह बताओ कि तुम्हारी किस भोजन में रुचि है ?’’ मुनि रूपधारी देव ने कहा – ‘‘पूर्वदेश के धान का शुभ एवं सुगन्धित भात, पंचाल देश की मूँग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिमदेश की गायों का तपाया हुआ घी, कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन यदि मिल जावे तो अच्छा हो क्योंकि मेरी श्रद्धा इन्हीं चीजों में अधिक है।’’ इस प्रकार कहने पर ‘मैं अभी लाता हूँ’ यह कहकर नन्दिषेण मुनि बड़ी श्रद्धा के साथ उक्त आहार लेने के लिये चल दिये । विशुद्ध देश की वस्तुओं की चाह होने पर भी

उनके मन में कुछ भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ और गोचरी वेला में जाकर तथा उक्त सब आहार लाकर उन्होंने शीघ्र ही उस कृत्रिम मुनि को दे दिया । कृत्रिम मुनि ने उस आहार पानी को ग्रहण किया परन्तु रात्रि में शरीर के अन्तर्गत मल से उसका समस्त शरीर मलिन हो गया और नन्दिषेण मुनि ने बिना किसी ग्लानि के उसे अपने हाथों से धोया । तदनन्तर जिनका उत्साह भग्न नहीं हुआ था, तथा जो बराबर वैयावृत्य कर रहे थे ऐसे प्रशंसनीय नन्दिषेण मुनि को देखकर दिव्य रूप को धारण करने वाले देव ने कहा कि – ‘‘हे ऋषे ! देवों की सभा में इन्द्र ने आपकी जिस प्रकार स्तुति की थी मैं देख रहा हूँ कि आप उसी तरह वैयावृत्य करने में उद्यत हैं । अहो ! आपकी ऋद्धि, आपका धैर्य, आपकी ग्लानि जीतने की क्षमता और संशय रहित आपका शासन वात्सल्य सभी आश्चर्यकारी हैं, आप उत्तम मुनिराज हैं । यदि तप करते समय अन्य बुद्धिमान मनुष्यों की भी इसी प्रकार त्रिकाल में वैयावृत्य करने की बुद्धि हो जावे तो उसे उनकी शासन भक्ति समझना चाहिये।’’ इस प्रकार वह देव, मुनिराज की स्तुति कर तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जिन शासन की प्रभावना करता हुआ स्वर्ग को चला गया ।

अत्यन्त धीर बुद्धि को धारण करने वाले नन्दिषेण मुनि ने तपश्चरण द्वारा पैंतीस हजार वर्ष बिताकर अन्तिम समय छह माह का प्रायोगमन संन्यास ले लिया । उन्होंने शरीर और आहार का त्याग कर दिया, वे अपने शरीर की वैयावृत्ति न स्वयं करते थे न दूसरे से कराते थे किन्तु इतना होने पर भी मोह की तीव्रता से उन्होंने ‘‘मैं अग्रिम भव में लक्ष्मीवान् तथा सौभाग्यवान् होऊँ’’ इस निदान से अपनी आत्मा को बन्ध कर लिया । यदि वे मुनि इस समय यह निन्दित निदान नहीं करते तो अपनी सामर्थ्य से अवश्य ही तीर्थकर प्रकृति का बंध करते । तदनन्तर वह आराधनाओं की आराधना कर महाशुक्र र्खर्ग में इन्द्र तुल्य देव हुआ और वहाँ साढ़े सोलह सागर तक सुख से विद्यमान रहा । हे राजन् ! वही पुत्र देवों के सुख भोगकर अन्त में वहाँ से च्युत हो तेरी सुभद्रा रानी से यह पृथिवी का अधिपति वसुदेव नाम का पुत्र हुआ है ।

उपर्युक्त प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक रोगी साधु के लिये अन्य एक साधु आहार-औषधि आदि की व्यवस्था केवल कर ही सकता है ऐसी बात नहीं है परन्तु यह साधु का एक धार्मिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व भी होता है । पहले

वर्णन किया गया था कि समाधिस्थ मुनि के लिये भोजन लाने के लिये अनेक साधु जाते हैं और उनके योग्य भोजन श्रावक के घर से लेकर के आते हैं। जब साधु दूर-दूर से श्रावक के घर से योग्य भोजनादिक एक रोगी या समाधिस्थ साधु के लिये ला सकते हैं तब क्या एक रोगी या जिनके अनेक अन्तराय आते हैं ऐसे साधु के लिये अन्य साधु श्रावक के यहाँ जाकर उनके योग्य भोजन, औषधि आदि नहीं दिला सकते हैं? अवश्य दिला सकते हैं। केवल दिला ही नहीं सकते हैं दिलावाना उनका परम कर्तव्य भी हो जाता है। देखने में एवं सुनने में आता है कि कुछ गृहस्थ एवं साधु यदि रोगी या अन्तराय वाले साधु की आहार व्यवस्था के लिये कोई साधु या आर्थिकाएँ जाती हैं तो इसे अयोग्य मानते हैं और निन्दा करते हैं। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त अधार्मिक, क्रूर, हृदयहीन, कठोर, निन्दक, छिद्रान्वेषणकारी, आगम तथा जैन धर्म बाह्य हैं।

## पवित्र सेवाभावी उद्घायन राजा

उद्घायन रौरवक नामक शहर के राजा थे, जो कि कच्छदेश के अन्तर्गत था। उद्घायन सम्पूर्ण थे, दानी थे, विचारशील थे, जिनभगवान् के सच्चे भक्त थे और न्यायी थे। सुतरां प्रजाका उनपर बहुत प्रेम था और वे भी प्रजा के हित में सदा उद्यत रहा करते थे। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। वह भी सती थी, धर्मात्मा थी। उसका मन सदा पवित्र रहता था। वह अपने समय को प्रायः दान, पूजा, व्रत, उपवास, खाद्यायादि में विताती थी। उद्घायन अपने राज्य का शान्ति और सुख से पालन करते और अपनी शक्ति के अनुसार जितना बन पड़ता, उतना धार्मिक काम करते। कहने का मतलब यह कि वे सुखी थे, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उनका राज्य भी शत्रु रहित निष्कंटक था।

एक दिन सौधर्मस्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में धर्मोपदेश कर रहा था ‘कि संसार में सच्चे देव अरहन्त भगवान् है, जो कि भूख, प्यास, रोग, शोक, भय, जन्म, जरा, मरण आदि दोषों से रहित और जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाने वाले हैं, सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशलक्षण रूप है, गुरु निर्ग्रन्थ है, जिनके पास परिग्रह का नाम निशान नहीं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि से रहित है और वह सच्ची श्रद्धा है, जिससे जीवाजीवादिक पदार्थों में रुचि होती है। वही रुचि स्वर्ग मोक्ष को देनेवाली है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्म

में प्रेम करने से, तीर्थयात्रा करने से, रथोत्सव कराने से, जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने से, प्रतिष्ठा कराने से, प्रतिमा बनवाने से और साधर्मियों से वात्सल्य अर्थात् प्रेम करने से उत्पन्न होती है। आप लोग ध्यान रखिये कि सम्यग्दर्शन संसार में एक सर्व श्रेष्ठ वर्स्तु है और कोई वर्स्तु उसकी समानता नहीं कर सकती। यही सम्यग्दर्शन दुर्गतियों का नाश करके, स्वर्ग और मोक्ष का देनावाला है। इसे तुम धारण करो।’ इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और उसके आठ अंगों का वर्णन करते समय इन्द्र ने निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाले उद्घायन राजा की बहुत प्रशंसा की। इन्द्र के मुँह से एक मध्य-लोक के मनुष्य की प्रशंसा सुनकर एक बासव नाम का देव उसी समय स्वर्ग से भारत में आया और उद्घायन राजा की परीक्षा करने के लिये एक कोड़ी मुनि का वेश बनाकर भिक्षा के लिये दोपहर ही को उद्घायन के महल गया। उसके शरीर से कोड़ गल रहा था, उसकी वेदना से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे, सारे शरीर पर मक्खियाँ भिन-भिन रही थीं और सब शरीर विकृत हो गया था। उसकी यह हालत होने पर भी जब वह राज-द्वार पर पहुँचा और महाराज उद्घायन की उस पर दृष्टि पड़ी तब वे उसी समय सिंहासन से उठकर आये और बड़ी भक्ति से उन्होंने उस छली मुनि का आद्वान किया। इसके बाद नवधा भक्तिपूर्वक हर्ष के साथ राजा ने मुनि को प्रासुक आहार कराया। राजा आहार कराकर निवृत्त हुए कि इतने में उस कपटी मुनि ने अपनी माया से महा दुर्गन्धित वमन कर दिया। उसकी असह्य दुर्गन्ध के मारे जितने लोग पास खड़े हुए थे, वे सब भाग खड़े हुए, किन्तु केवल राजा और रानी मुनि की सम्हाल करने के लिये वहीं रह गये। रानी मुनि का शरीर पोंछने को उसके पास गई। कपटी मुनि ने उस बेचारी पर भी महा दुर्गन्धित उछाट कर दी। राजा और रानी ने इसकी कुछ परवाह न कर उलटा इस पर बहुत पश्चान्ताप किया कि हमसे मुनि की प्रकृति विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया, जिससे मुनिराज को इतना कष्ट हुआ। हम लोग बड़े पापी हैं। इसीलिये तो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहाँ निरन्तराय आहार नहीं हुआ। सच है जैसे पापी लोगों को मनोवांछित देनेवाला चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नहीं होता, उसी तरह सुपात्र के दान का योग भी पापियों को नहीं मिलता है। इस प्रकार अपनी आत्मनिन्दा कर और अपने प्रमाद पर बहुत खेद प्रकाश कर राजा रानी ने मुनि का सब शरीर जल से धोकर साफ किया। उनकी इस प्रकार अचल भक्ति देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नता के साथ बोला—‘राजराजेश्वर! सचमुच ही तुम सम्पूर्ण हो, महादानी हो। निर्विचिकित्सा अंग

के पालन करने में इन्द्र ने जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वह अक्षर—अक्षर ठीक निकली। वैसा ही मैंने तुम्हें देखा। वास्तव में तुम ही ने जैनशासन का रहस्य समझा है। यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनि की दुर्गन्धित उछाट अपने हाथों से उठाता? राजन्! तुम धन्य हो, शायद ही इस पृथ्वी मंडल पर इस समय तुम सरीखा सम्प्रदृष्टियों में शिरोमणि कोई होगा?" इस प्रकार उदायन की प्रशंसा कर देव अपने स्थान पर चला गया और राजा फिर अपने राज्य का सुखपूर्वक पालन करते हुए दान, पूजा, ब्रत, आदि में अपना समय बिताने लगे।

इसी तरह राज्य करते—करते उदायन का कुछ और समय बीत गया। एक दिन वे अपने महल पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि इतने में एक बड़ा भारी बादल का टुकड़ा उनकी आँखों के सामने से निकला। वह थोड़ी ही दूर पहुँचा होगा कि एक प्रबल वायु के वेग ने उसे देखते—देखते नामशेष कर दिया। क्षणभर में एक विशाल मेघखण्ड की यह दशा देखकर उदायन की आँखे खुलीं। उन्हें सारा संसार ही अब क्षणिक जान पड़ने लगा। उन्होंने उसी समय महल से उतरकर अपने पुत्र को बुलाया। और उसके मस्तक पर राजतिलक करके आप भगवान् वर्णमान के समवशरण में पहुँचे और भक्ति से भगवान की पूजा कर उनके चरणों के पास ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली, जिसका इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि सभी आदर करते हैं।

साधु होकर उदायन राजा ने खूब तपश्चर्या की, संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ रलत्रय प्राप्त किया। इसके बाद ध्यान रूपी अग्नि से धातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने संसार के दुःखों से तड़पते हुए अनेक जीवों को उबारकर, अनेकों को धर्म के पथ पर लगाया और अंत में अधातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी अनंत मोक्ष पद प्राप्त किया।

उधर उनकी रानी सती प्रभावती भी जिनदीक्षा ग्रहण कर तपश्चर्या करने लगी और अन्त में समाधिमृत्यु प्राप्त कर ब्रह्मस्वर्ग में जाकर देव हुई।

### सेवाभावी ग्वाला से सुदर्शन

इसी भरत क्षेत्र के भीतर अंग देश के अन्तर्गत एक चम्पापुर नगर है। वहाँ धात्रीवाहन नाम का राजा राज्य करता था। रानी का नाम अभयमती था। इसी पुर में एक वृषभदास नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम जिनमती था।

सेठ के यहाँ एक सुभग नाम का ग्वाला था। एक दिन वह ग्वाला वन से घर के लिये वापिस आ रहा था। वहाँ उसे वन में चौराहे पर एक दिगम्बर मुनि दिखाई दिये। उस समय सूर्य अस्त हो चुका था और समय शीत का था। ऐसे समय में भी वे मुनि ध्यान में स्थित थे। उन्हें देखकर उस ग्वाले ने विचार किया कि ये ऐसे शीतकाल में रात्रि के समय कैसे जीवित रह सकेंगे? यही विचार करता हुआ वह घर गया और वहाँ से लकड़ियों व आग को लेकर मुनिराज के पास फिर से आया। उसने अग्नि को जलाकर उनकी शीत बाधाओं को दूर किया और स्वयं रात्रि में उन्हीं के पास रहा। प्रातःकाल होने पर जब सूर्य का उदय हुआ तब उन मुनि महाराज ने अपने दोनों हाथों को उठाकर उस आसन्न भव्य की ओर दृष्टिपात किया। उन्होंने उसे निकट भव्य जानकर यह उपदेश दिया कि तुम गमनादि कार्यों में प्रथमतः 'णमो अरहंताण' इस मंत्र को बोला करो। तत्पश्चात् वे स्वयं भी 'णमो अरहंताण' कहते हुए आकाश मार्ग से चले गये। इस प्रकार से मुनि को जाते हुए देखकर उस ग्वाले की उक्त मंत्र वाक्य के ऊपर दृढ़ श्रद्धा हो गई। तब से वह भोजनादि समर्त कार्यों में उक्त मंत्र वाक्य के उच्चारण पूर्वक ही प्रवृत्त होने लगा। उसकी ऐसी प्रवृत्ति को देखकर एक दिन सेठ ने पूछा कि तू समर्त कार्यों के प्रारम्भ में 'णमो अरिहंताण' क्यों कहता है? तब उसने सेठ से उस पूर्व वृत्तान्त को कह दिया। तब सेठ ने उसकी बहुत प्रशंसा की। वह उसके लिए उत्तम ग्रास आदि ('भोजनादि') देने लगा।

एक दिन वन में किसी ने उस ग्वाले से कहा कि तेरी भैसे गंगा के उस पार चली गई हैं। यह सुनकर वह भैसों को वापिस ले आने के विचार से गंगा में कूद पड़ा। वहाँ उसका पेट एक पैनी लकड़ी से विध किया। वहाँ उसने 'णमो अरिहंताण' मंत्र का उच्चारण करते हुए यह निदान किया कि मैं इस मंत्र के प्रभाव से सेठ का पुत्र हो जाऊँ। तदनुसार वह मरकर जिनमती के गर्भ में स्थित हुआ। उस समय जिनमती ने स्वप्न में सुदर्शन मेरु, कल्पवृक्ष, देवभवन, समुद्र और अग्नि को देखा। तब उसने पति से इन स्वप्नों के विषय में कहा। तब सेठ ने कहा कि चलो जिन मन्दिर चलकर उनका फल मुनिराज से पूछें। तब वे दोनों जिनमन्दिर गये। वहाँ उन्होंने जिन भगवान् की पूजा और स्तुति करके सुगुप्त मुनि की वन्दना की। तत्पश्चात् सेठ ने मुनिराज से उक्त स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर में मुनिराज ने कहा कि मेरु के देखने से धीर, कल्पवृक्ष के देखने से सम्पत्तिशाली होकर दानी, देवभवन

के दर्शन से देवों के द्वारा वंदनीय, समुद्र के दर्शन गुणरूप रत्नों की खान, तथा अग्नि के देखने से कर्मरूप इन्धन को जलाने वाला, ऐसा इस जिनमती के पुत्र होगा । यह सुनकर वे दोनों संतुष्ट होकर अपने घर आये और सुखपूर्वक स्थित हुए । तत्यश्चात् पौष शुक्ला चतुर्थी के दिन जिनमती के पुत्र उत्पन्न हुआ । उसका नाम सुदर्शन रखा गया ।

उपर्युक्त प्रकरण से यह ध्वनित होता है कि ग्वाला को जैन धर्म के बारे में कोई आक्षरिक शिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी परन्तु उसके हृदय में स्वाभाविक रूप से परोपकार, दया की भावना थी । उसे यह भी ज्ञान नहीं था कि साधु आग से नहीं तापते हैं तथापि सहज करुणा से प्रेरित होकर साधु की शीत बाधा दूर करके सेवा करने के लिये आग जलाकर के रात भर साधु की सेवा की । यह सब कार्य आगम विस्तृद्व एवं साधु के लिये अयोग्य होते हुए भी प्रातःकाल साधु ध्यान त्याग के बाद उसे भव्य जानकर उसके उद्धार के लिए 'ण्मो अरहंताणं' मंत्र देते हैं । साधु को यह ज्ञान था कि साधु के लिए तापने के लिए आग जलाने वाला जैन आगम ज्ञान से रहित है तथापि उसे भव्य मानकर 'ण्मो अरिहंताणं' मंत्र आशीर्वाद में क्यों दिया ? यह एक विचारणीय एवं रहस्यपूर्ण विषय है । भले ग्वाला को आगम का ज्ञान नहीं था और उसे सम्यक् दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई थी तथापि उसकी स्वाभाविक परोपकारिता उसके निकट भव्यत्व की सूचना देनेवाली थी । इससे सिद्ध होता है कि यदि कोई अच्छी भावना से परोपकार के लिये कुछ कार्य करता है और वह कार्य कुछ दोष कारक है तथापि वह दोष (पूजा, मन्दिर निर्माण, तीर्थयात्रा आदि में कुछ न कुछ जीव हिंसा होती हैं, पापबंध होता है) आनुषांगिक होने के कारण दोष प्रद नहीं है । आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है 'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषाय नालं' अर्थात् पाप कम होता है पुण्य अधिक होता है इसलिए यह दोषकारक नहीं है । कुछ कुतर्की, भोगवादी, प्रमादी धर्मद्रोही लोग मानते हैं और कहते फिरते हैं कि आहारदान, गुरुसेवा, पूजा आदि से आरम्भ होता है, हिंसा होती है इसलिए ये सब करने योग्य नहीं हैं । इतना ही नहीं कुछ एकान्तिक आध्यात्मिक भोगवादी लोग इसे पुण्य बंध का कारण मानते हैं और पुण्यबंध को भी संसार का कारण मानकर न स्वयं करते हैं और करनेवालों की निंदा करते हैं, विरोध करते हैं । ऐसे व्यक्ति भोग के लिए, धन के लिए, अनेक प्रकार के विचित्र, अन्याय, अत्याचार, शोषण, पापाचार करते रहेंगे । भोग के लिए, काम के लिये दूसरों की सेवा करेंगे

परन्तु धार्मिक साधु संतों की सेवा का विरोध करेंगे । ऐसे व्यक्ति अतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट सर्वत्र भ्रष्ट है ।

## वात्सल्य सेवा भावी विष्णुकुमार मुनि

अवन्ति देश की उज्जयनि नगरी में श्रीवर्मा राजा राज्य करता था । उसके बलि, बृहस्पति, प्रल्लाद और नमुचि ये चार मंत्री थे । यहाँ एक समय शास्त्रों के आधार, दिव्यज्ञानी तथा सात सौ मुनियों से सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यान में ठहर गये । अकम्पनाचार्य ने समस्त संघ को मना कर दिया था कि राजादिक के आने पर किसी के साथ वार्तलाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघ का नाश हो जावेगा ।

राजा अपने ध्वलगृह में बैठा था । वहाँ से उसने पूजा की सामग्री हाथ में लेकर जाते हुए नागरिकों को देखकर मन्त्रियों से पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं, यह यात्रा का समय तो है नहीं । मंत्रियों ने कहा कि नगर के बाहर उद्यान में बहुत से नग्न साधु आये हैं, ये लोग वहाँ जा रहे हैं । राजा ने कहा कि हम भी उन्हें देखने के लिए चलते हैं । ऐसा कहकर राजा मन्त्रियों सहित वहाँ गया । एक-एक कर समस्त मुनियों की वन्दना राजा ने की परन्तु किसी ने भी आशीर्वाद नहीं दिया । दिव्य अनुष्ठान के कारण ये साधु अत्यन्त निःस्फूर हैं ऐसा विचार कर जब राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रखने वाले मन्त्रियों ने यह कह कर उन मुनियों का उपहास किया कि ये बैल हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं, मूर्ख है इसलिए छल से मौन लेकर बैठे हैं । ऐसा कहते हुए मंत्री राजा के साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्चाकर आते हुए श्रुतसागर मुनि को देखा । देखकर कहा कि 'यह तरुण बैल पेट भर कर आ रहा है' । यह सुनकर उन मुनि ने राजा के मन्त्रियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया । वापिस आकर मुनि ने ये सब समाचार अकम्पनाचार्य से कहे । अकम्पनाचार्य ने कहा कि तुमने समस्त संघ को मरवा दिया । यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर तुम रात्रि में अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराध की शुद्धि हो सकती है । तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग से स्थित हो गये ।

अत्यन्त लज्जित और क्रोध से भरे हुए मंत्री रात्रि में समस्त संघ को मारने के लिए जा रहे थे कि उन्होंने मार्ग में कायोत्सर्ग से खड़े हुए उन मुनि को देखकर

विचार किया कि जिसने हम लोगों का पराभव किया है, वही मारने के योग्य है। ऐसा विचार कर चारों मन्त्रियों ने मुनि को मारने के लिए एक साथ खड़ग ऊपर उठाये। परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे नगर देवता ने आकर उन सबको उसी अवस्था में कील दिया। प्रातःकाल सब लोगों ने उन मन्त्रियों को उसी प्रकार कीलित देखा। मन्त्रियों की इस कुचेष्टा से राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंशपरम्परा से चले आ रहे हैं, यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गदर्भारोहण आदि कराकर निकाल दिया।

तदनन्तर, कुरुजांगदलदेश के हस्तिनापुर नगर में राजा माहपद्म राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उनके दो पुत्र थे— पद्म और विष्णु। एक समय राजा महापद्म पद्म नामक पुत्र को राज्य देकर विष्णु नामक पुत्र के साथ श्रुतसागरचन्द्र नामक आचार्य के पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक आकर पद्मराजा के मंत्री बन गये। उसी समय कुम्भपुर के दुर्ग में राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्ग के बल से राजा पद्म के देश में उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़ने की चिन्ता में दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलि ने कहा कि देव! दुर्बलता का क्या कारण है? राजा ने उसे दुर्बलता का कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहाँ गया और अपनी बुद्धि के महात्म्य से दुर्ग को तोड़कर तथा सिंहबल को लेकर वापस आ गया। उसने राजा पद्म को यह कहकर सिंहबल को सौंप दिया कि यह वही सिंहबल है। राजा पद्म ने संतुष्ट होकर कहा कि तुम अपना वाज्ञित वर मांगो। बलि ने कहा कि जब मागूँगा तब दिया जावे।

तदनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुये अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि उसी हस्तिनापुर में आये। उनके आते ही नगर में हलचल मच गयी। बलि आदि मन्त्रियों ने उन्हें पहचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इय भय से उन्होंने उन मुनियों को मारने के लिए राजा पद्म से अपना पहले का वर माँगा कि हम लोगों को सात दिन का राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिन का राज्य देकर अन्तःपुर में चला गया। इधर बलि ने आतापनगिरि पर कायोत्सर्ग से खड़े हुए मुनियों को बाड़ी से वेष्टित कर मण्डप लगा घड़ करना शुरू किया। झूठे शकौरे, बकरा आदि जीवों के कलेवर तथा धूम आदि के द्वारा मुनियों को मारने के लिए बहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकार का संन्यास लेकर रिथर हो गये।

तदनन्तर मिथिला नगरी में आधी रात के समय बाहर निकले हुए, श्रुतसागरचन्द्र आचार्य ने आकाश में काँपते हुए श्रवण नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जानकर कहा कि महामुनियों पर महान् उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा कि ‘कहाँ किन पर महान् उपसर्ग हो रहा है?’ उन्होंने कहा कि हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य आदि सातसौ मुनियों पर। उपसर्ग कैसे दूर हो सकता है? ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि ‘धरणीभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धि के धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित हैं। वे उपसर्ग को नष्ट कर सकते हैं।’ यह सुन क्षुल्लक ने उनके पास जाकर सब समाचार कहे। ‘मुझे विक्रिया ऋद्धि है क्या?’ ऐसा विचार कर विष्णुकुमार मुनि ने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वत को भेद कर दूर तक चला गया। पश्चात् विक्रिया का निर्णय कर उन्होंने हस्तिनापुर जाकर राजा पद्म से कहा कि तुमने मुनियों पर उपसर्ग क्यों कराया? आपके कुल में ऐसा कार्य किसी ने नहीं किया। राजा पद्म ने कहा कि क्या करूँ मैंने पहले इसे वर दे दिया था।

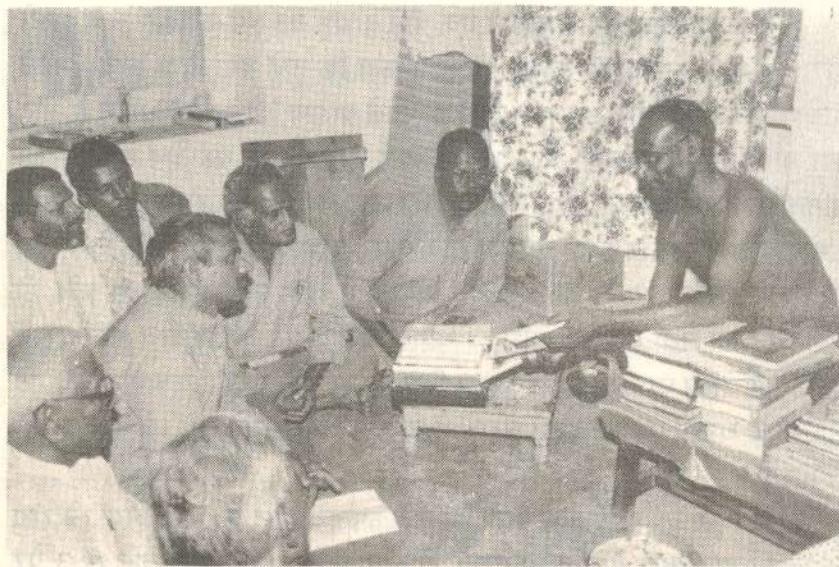
अनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने एक बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेद पाठ करना शुरू किया। बलि ने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे? बौने ब्राह्मण ने कहा कि तीन डग भूमि दे दो। ‘पगले ब्राह्मण! देने को तो बहुत है और कुछ मांग’ इस प्रकार बार-बार लोगों के कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही मांगता रहा। तत्पश्चात् हाथ में संकल्प का जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दे दी गई तब उसने एक पैर तो मेरु पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे पैर के द्वारा देव विमानों में क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलि की पीठ पर रखा तथा बलि को बांधकर मुनियों का उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों मंत्री राजा पद्म के भय से आकर विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियों के चरणों में संलग्न हुए चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगे। वे मंत्री श्रावक बन गये।

उपर्युक्त वर्णन में पाया जाता है कि अकम्पनाचार्यादि 700 मुनियों की रक्षा के लिए विष्णुकुमार मुनि ने मुनि रूप को त्याग कर बामन रूप से बलि से 3 पैर भूमि प्राप्त करके विशाल रूप धारण किया था। उपसर्ग दूर होने के बाद पुनः मुनिरूप धारण करके ध्यान के बल से अरिहन्त, सिन्धु बने। इसलिए विष्णुकुमार मुनि

वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध हुए। ऐसे महामुनि द्वारा मुनि की रक्षा के लिए मुनि रूप त्याग करना बहुत कुछ रहस्य, आदर्श तथा शिक्षा देता है। कुछ व्यक्ति यहाँ तक कि स्वयं को धर्मिक मानने वाले श्रावक या मुनि भी आनुशंसिक पाप का बहाना बनाकर सेवा, वैद्यावृत्य, आहारदान, औषधदान आदि का विरोध करके महान् कठोर, हिंसक, पाप का परिचय देते हैं।

五五五

गायत्री परिचार के प्रचारक तथा कार्यकर्ताओं के साथ विचार के क्षणों में आ.श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव



ज्ञानदानी



ला. अतर सैन जैन, बडौत  
एवं पंकज जैन “क्षमा” S/o श्री सुखमालचन्द जैन,  
बडौत (वागपत) उ. प्र.